कवि रविनाथ मिश्र : सृजन एवं संघर्ष

सम्पादन
डॉ॰ इन्दु जोशी

छविनाथ मिश्र

जन्म	: पौष शुक्ल सप्तमी तदनुसार ६ जनवरी १९२७ प्रयाग (उत्तर प्रदेश)
प्रकाशित काव्य-कृतियाँ	: अँगना फूले कचनार (१९६२) : समय दंश (१९७१) : ऋचा गीत (१९८६) : टुकड़ों में बँटा आकाश (१९८६) : कविता में जीने का सुख (१९८७) : कलम का दर्द (१९८९)
बांग्ला से अनुवाद	: योगीराज श्यामाचरण लाहिड़ी : भैरव बामा खेपा
सम्पर्क	: १००, रवीन्द्र सरणी ३६ए गवर्नमेंट क्वार्टर्स लिलुआ, पो० भट्टनगर हवड़ा ७११२०३

प्रतिध्वनि की ओर से वरिष्ठ साहित्यकार सम्मान योजना के अन्तर्गत प्रकाशित ।

कवि छविनाथ मिश्र : सृजन एवं संघर्ष / सम्पादन डॉ० इन्दु जोशी

प्रतिध्वनि
कलकत्ता
७००००७

कवि छविनाथ मिश्र : सृजन एवं संघर्ष / सम्पादन डॉ० इन्दु जोशी
प्रतिध्वनि के लिए मधु जोशी ३१, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००७
द्वारा प्रकाशित / शिवकुमार नोपानी 'चाचा' एसकेज
८, शोभाराम बैशाख स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००७
द्वारा मुद्रित
आवरण : राजेन्द्र कानूनगो
प्रथम संस्करण : १९९५
मूल्य : सत्तर रुपये
KAVI CHHAVINATH MISHRA : SRIJAN EVAM SANGHARSH
Edited by DR. INDU JOSHI

कवि श्री छविनाथ मिश्र को
ससम्मान

एक सार्थक काव्ययात्रा

"अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः। कवि ब्रह्म है, ब्रह्म सर्जक है। कवि भी सर्जक है। एक अतीन्द्रिय है, परोक्ष है, दूसरा इन्द्रिय-ग्राह्य है, प्रत्यक्ष है। 'कविता कवि के द्वारा सृजित एक आविष्कार है, मनुष्यता का एक अक्षय मार्मिक पर्याय'। काव्य-यात्रा का इतिहास गवाह है कि कविता की ऐतिहासिक विकास यात्रा में श्रेष्ठ कवि कर्म का मूल्यांकन हमेशा हुआ है, भले ही कुछ कवि किसी कारणवश चर्चा के केन्द्र में न आ पाए हों। काल की दृष्टि से चींटी भी नहीं बचती। फिर कविता तो 'प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः' नये से नये, उत्कृष्टतर जीवन को ओर बढ़ने की प्रेरणा, नया कुछ गढ़ने की दृष्टि से संचालित होती है।

कलकत्ता महानगर में 'दादा' कहने मात्र से कवि छविनाथ मिश्र का स्मरण हो आता है। दादा स्वभाव से संत, कंधे पर किताबों भरा झोला लटकाए, आज अड़सठ वर्ष की उम्र में भी नौजवानों से अधिक फुर्ती-चुस्ती, आनन्दमयी मुस्कान बिखेरते आत्मीय स्पर्श की छुअन देते मिल जाते हैं। **प्रतिध्वनि की वरिष्ठ साहित्यकार सम्मान** शृंखला के अन्तर्गत श्री मनमोहन ठाकौर की तीन पुस्तकें—अन्तरंग, काले पानी का गहराव और अग्नि (सम्पादन) प्रकाशित करके उन्हें १९९३ में समादृत किया गया था। इस शृंखला की शुरुआत के पीछे एक ही उद्देश्य था कि आज के व्यावसायिक युग में किसी साहित्यकार के सम्मान के नाम पर उसका शाब्दिक अभिनन्दन न कर उसकी कृतियों को प्रकाशित किया जाय। इस वर्ष अगली कड़ी के रूप में ऋचागीत के रचयिता श्री छविनाथ मिश्र के सम्मान में उनकी दो पुस्तकें प्रकाशित कर उन्हें समादृत करने की योजना बनी। छविनाथजी की रचनाओं ने हिन्दी कविता को विविध स्तरों पर समृद्ध किया है। रोमांटिक चेतना से जुड़कर, नवगीत एवं ऋचाओं

का गीतात्मक सृजन कवि छविनाथ मिश्र के लिये ही सम्भव था। 'सुनो कविता मेरा नाम ईश्वर है' जैसी पंक्ति एक साधारण कवि नहीं कह सकता। एक साधारण किन्तु समर्पित व्यक्ति की असाधारण ज्योति यात्रा से ही ऐसी पंक्तियाँ निसृःत होती हैं।

प्रतिध्वनि ने जब मुझे छविनाथजी पर पुस्तक सम्पादन का दायित्व सौंपा तो मेरे लिए निश्चय ही चुनौती थी। मन में एक प्रश्न था कि सम्पादन क्यों? क्या उन पर एक स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी जा सकती? सम्पादन किया भी जाय तो कवि चेतना के बहुआयामी पक्षों का उद्घाटन अवश्य होना चाहिए, प्रशंसा अथवा स्तुति गान भर वह न हो। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी सृजन प्रक्रिया को समझने के लिये कलकत्ता महानगर के उन लेखकों और कवियों को ही सम्मिलित किया गया है, जिनका छविनाथजी से वर्षों का अन्तरंग सम्बन्ध रहा है यद्यपि जिस गहन दृष्टि से कवि की सर्जना को विश्लेषित करने की चेष्टा थी, चाहकर भी उसके कई पक्ष अछूते रह गये; कदाचित इस कथन को सार्थक करने के लिए छविनाथ मिश्र की काव्य-यात्रा का पूर्ण और सार्थक मूल्यांकन भविष्य में स्वतन्त्र रूप से हो सकेगा।

विश्वसाहित्य में ऐसे अनेक कवि हैं जिनकी उल्लेख्य भूमिका का समग्र मूल्यांकन नहीं हो पाया। कलकत्ता महानगर के हिन्दी रचनाकारों की भी यही विडम्बना रही कि श्रेष्ठ रचनाओं के रचयिता होने के बावजूद राष्ट्रीय स्तर पर उनकी चर्चा नहीं हुई। एक या दो को अपवाद मानना चाहिए। इसका एक कारण तो स्पष्ट है कि सर्जनारत कवियों ने कलकत्ते की सीमा में ही समर्पण मुद्रा में दायित्व निभाया, बाहर फैलने की छटपटाहट नहीं रही। यूँ कहें कि व्यावसायिक बुद्धि, व्यावसायिक कौशल का आकर्षण इन्हें नहीं भाया। पिछले कुछ दिनों से कलकत्ता महानगर में जिस निष्ठा, से साहित्यिक अनुष्ठान विविध संस्थाओं के माध्यम से हो रहे हैं और उनकी प्रकाशित कृतियों की राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा हो रही है, उससे यह आशा बँधती है कि एक दिन निश्चय ही कलकत्ता महानगर को हिन्दी का गढ़ कहलाने का गौरव पुनः हासिल होगा।

कलकत्ता मनीषियों और चिन्तकों की साधना भूमि है। सन् १९४५ के आसपास छविनाथ जी का कलकत्ता आगमन हुआ। 'समयदंश' से विह्वल होकर छविनाथ मिश्र ग्राम संस्कृति से महानगरीय संस्कृति की ओर मुड़े। समय का निर्मम साक्षात्कार, अपने हिस्से के समय को आत्मीय नुमाइन्दों के द्वारा हड़प लिए जाने पर भी उनके कवि को किसी से शिकायत नहीं क्योंकि वह मानता है 'होहिहैं सोइ जो राम रचि राखा'। महानगरीय दंशों से छविनाथजी भले ही विचलित न हुए हों किन्तु उनके अन्तरंग मित्र उनके प्रति हुई साहित्यिक उदासीनता से जरूर मर्माहत हैं—"निराला, उग्र, भगवती चरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, शिवपूजन सहाय और दूसरे बड़े - बड़ों को कितना तपाया-सतामा है कलकत्ता ने, इतिहास गवाह है और अज़ीज दोस्त गवाह हैं कि कलकत्ते

का गीतात्मक सृजन कवि छविनाथ मिश्र के लिये ही सम्भव था। 'सुनो कविता मेरा नाम ईश्वर है' जैसी पंक्ति एक साधारण कवि नहीं कह सकता। एक साधारण किन्तु समर्पित व्यक्ति की असाधारण ज्योति यात्रा से ही ऐसी पंक्तियाँ निसृ:त होती हैं।

प्रतिध्वनि ने जब मुझे छविनाथजी पर पुस्तक सम्पादन का दायित्व सौंपा तो मेरे लिए निश्चय ही चुनौती थी। मन में एक प्रश्न था कि सम्पादन क्यों? क्या उन पर एक स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी जा सकती? सम्पादन किया भी जाय तो कवि चेतना के बहुआयामी पक्षों का उद्घाटन अवश्य होना चाहिए, प्रशंसा अथवा स्तुति गान भर वह न हो। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी सृजन प्रक्रिया को समझने के लिये कलकत्ता महानगर के उन लेखकों और कवियों को ही सम्मिलित किया गया है, जिनका छविनाथजी से वर्षों का अन्तरंग सम्बन्ध रहा है यद्यपि जिस गहन दृष्टि से कवि की सर्जना को विश्लेषित करने की चेष्टा थी, चाहकर भी उसके कई पक्ष अछूते रह गये कदाचित इस कथन को सार्थक करने के लिए छविनाथ मिश्र की काव्य-यात्रा का पूर्ण और सार्थक मूल्यांकन भविष्य में स्वतन्त्र रूप से हो सकेगा।

विश्वसाहित्य में ऐसे अनेक कवि हैं जिनकी उल्लेख्य भूमिका का समग्र मूल्यांकन नहीं हो पाया। कलकत्ता महानगर के हिन्दी रचनाकारों की भी यही विडम्बना रही कि श्रेष्ठ रचनाओं के रचयिता होने के बावजूद राष्ट्रीय स्तर पर उनकी चर्चा नहीं हुई। एक या दो को अपवाद मानना चाहिए। इसका एक कारण तो स्पष्ट है कि सर्जनारत कवियों ने कलकत्ते की सीमा में ही समर्पण मुद्रा में दायित्व निभाया, बाहर फैलने की छटपटाहट नहीं रही। यूँ कहें कि व्यावसायिक बुद्धि, व्यावसायिक कौशल का आकर्षण इन्हें नहीं भाया। पिछले कुछ दिनों से कलकत्ता महानगर में जिस निष्ठा, से साहित्यिक अनुष्ठान विविध संस्थाओं के माध्यम से हो रहे हैं और उनकी प्रकाशित कृतियों की राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा हो रही है, उससे यह आशा बँधती है कि एक दिन निश्चय ही कलकत्ता महानगर को हिन्दी का गढ़ कहलाने का गौरव पुनः हासिल होगा।

कलकत्ता मनीषियों और चिन्तकों की साधना भूमि है। सन् १९४५ के आसपास छविनाथ जी का कलकत्ता आगमन हुआ। 'समयदंश' से विह्वल होकर छविनाथ मिश्र ग्राम संस्कृति से महानगरीय संस्कृति की ओर मुड़े। समय का निर्मम साक्षात्कार, अपने हिस्से के समय को आत्मीय नुमाइन्दों के द्वारा हड़प लिए जाने पर भी उनके कवि को किसी से शिकायत नहीं क्योंकि वह मानता है 'होहिहैं सोइ जो राम रचि राखा'। महानगरीय दंशों से छविनाथजी भले हो विचलित न हुए हों किन्तु उनके अन्तरंग मित्र उनके प्रति हुई साहित्यिक उदासीनता से जरूर मर्माहत हैं—"निराला, उग्र, भगवती चरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, शिवपूजन सहाय और दूसरे बड़े - बड़ों को कितना तपाया-सताया है कलकत्ता ने, इतिहास गवाह है और अजीज दोस्त गवाह हैं कि कलकत्ते

के नंगे फुटपाथों पर छविनाथजी को कई ठिठुरती रातें काटनी पड़ी हैं। छविनाथजी कहते हैं हँसते हुए, 'सभी घाट का पानी पी चुका हूं' और नानाविध कष्ट देनेवाला कलकत्ता है जहां ऐरे ग़ैरे नत्थू खैरे की गाजेबाजों के साथ आरती उतारी जाती हैं, अपात्र रंगीन मंचों पर गुलछर्रे उड़ाते हैं और जहां छविनाथजी जैसी ऊँची प्रतिभा को कारखानों में सामान्य नौकरी कर और प्रूफ जांच कर अपनी रोटी का इन्तजाम करना पड़ता है।" ('गृहत ज्योति के प्यासे'/डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र)। वास्तव में कवि जानता है कि रोटी का सवाल हल करने के लिए कविता में सोचते हुए, हर रोज द.फ्तर तक पहुंचने का रास्ता तै करना कितना खतरनाक है। यह खतरा भयावह तब होता है जब कविता की ग़ैर मौजूदगी में ज़िन्दगी या कीमती चीजें कौड़ी के मोल बिक जाती हैं और सोचने के सिलसिले में पान की दूकान पर नया छाता छूट जाता है, कभी आखिरी ट्रेन चीखती हुई भाग जाती है क्योंकि वह एकमात्र कविता में जीता है। जब कविता उसके भीतर उतरने लगती है, वह आकाश होने लगता है। कविता कवि के समय और इतिहास की चेतना है, बोध और विवेक की संस्कृति है। इस कविता में जब "अपनी पूरी शक्ल देखनी चाही, 'हाथ से गिरकर दर्पण टूट गया', और 'टुकड़ों में बँटा आकाश' बिखर गया। लेकिन 'मुट्ठी भर माटी' और 'अंजुरी भर आकाश' की आवाज पर कविता की जो कलम रोपी थी, उसके वृन्त पर 'ऋचागीत' जैसा पुष्प खिलकर आश्वस्त करता है कि रचनात्मक ऊर्जा से परिपूर्ण प्रतिभा अपने हाड़-मांस को 'गला-जलाकर' अपने रक्त से सींचकर जो पल्लवित पृथ्वी हमें सौंपती है, उसी से उत्फुल्ल जीवन की सुगन्ध फैलती है।" 'ऋषि कल्प जीवन की अनुगूंज' / गुलाब सिंह)।

छन्द-पुरुष छविनाथ मिश्र का निश्छल समर्पण समय का संकेत पहचानता है। वह निरन्तर संघर्षरत है। रोटी और रचना के बीच दबोची हुई अपनी रचना के इकलौते आकाश की सुरक्षा के लिए कवि युद्धरत है—

"जब पराजय ही पराजय मंजिलों को छू रही हो
देखना है. तब विजय की कामना कितनी बड़ी है !
देखना है, कल्पना से साधना कितनी बड़ी है !"

सन् १९४५ से काव्य - यात्रा करनेवाले कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में प्रेम के गीत हैं, कल्पना के पंख हैं, भावुकता है, अनुभव की प्रौढ़ता का अभाव है "वस्तुतः १९४५ और १९५० तक का कवि का श्रम कवि होने की तैयारी का समय है और उस काव्य की भूमिका है जो भविष्य में नया रूप गढ़ने वाली थी।" (आरम्भः ज्योति-यात्रा का १९४५ से १९५५/ मृत्युंजय उपाध्याय) यह दौर प्रयोगवादी रचनाओं का था। प्रयोगवाद और नई कविता से प्रभाव न ग्रहण करके, अकविता से बचते हुए छविनाथ मिश्र ने नवगीत के रुझान को आत्मसात् किया। रोमांटिक भाव से अध्यात्म और तंत्र की ओर उन्मुख होकर भी कविता ही उनकी साधनाभूमि बनी।

१९६० से सक्रिय कवि-चेतना १९९५ तक पहुंचकर भी अवरुद्ध नहीं हुई। जिन पुस्तकों का प्रकाशन काफी पहले हो जाना चाहिए था, वे अबतक अप्रकाशित हैं। कुछ संकलन आज भी प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं। इसे कवि की असमर्थता नहीं कहनो चाहिए बल्कि हिन्दी साहित्य के प्रकाशकों की मनमानी मानना चाहिए कि अच्छी कृतियों और अच्छे रचनाकारों के चयन करने के विवेक का अभाव है उनमें। जबकि अप्रकाशित रचनाओं को सुनकर-देखकर अध्येता को यह बतलाना पड़ता है "इन कविताओं में अतीत मुखर है तो वर्तमान स्थापित और भविष्य की सम्भावनाओं की प्रतीति जो १९८५ के साथ समाप्त नहीं होती। छविनाथ मिश्र का काव्य जिजीविषा की ऊर्जा से सम्पन्न होकर जीवन की सत्वर गति का हेतु है और अतीत, वर्तमान और भविष्य का सेतु।" (वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति/कल्याणमल लोढ़ा)।

चूंकि 'कविता में जीने का सुख' और उसकी खूशबू दोनों कवि के हिस्से के आकाश और जमीन से जुड़े हैं इसलिए कविता कवि के लिए न तो अर्थ का पर्याय बनी, न केवल वाग्विलास। कविता उनका अस्तित्व है, उनके अपने होने की सार्थकता है, लेकिन जीवन के विविध प्रसंगों में यह सुखानुभूति कविता की तलाश भर हैं जिसे उन्होंने जिया हैं, इसलिए कविता छविनाथ जी को ईश्वर से भी बड़ी परिलक्षित होती हैं। "कविता उनके लिए न विलास है, न यश, वैभव, मान, सरमाये की तलाश। कविता उनका अन्तरंग अस्तित्व है, इसीलिए अपनी समझ के हाशिए के बीच कविता की संस्कृति की खोज के साथ 'कविता में जीने का सुख' उनके होते रहने का मर्म भी है और मजबूरी भी।" (साधारण किन्तु समर्पित व्यक्ति की असाधारण ज्योति-यात्रा / विष्णुकान्त शास्त्री) कविता की संस्कृति की तलाश कवि को किसी वाद के घेरे में नहीं बाँधती, न किसी विशेष प्रवृत्ति का अनुकरण करने की बाध्यता देती है। युयुत्सावाद का प्रवर्तक होने के बावजूद अध्यात्म की ओर कवि का झुकाव हुआ। पर यह प्रचार और प्रोपेगंडा नहीं है। गुणवत्ता के आधार पर उनकी कविता का उचित मूल्यांकन होना बाकी है। "इस कौशल से बचते रहते के कारण शमशेर को भी उनकी दाय दे पाने में हिन्दी आलोचना की चुप्पी देरी से टूटी और अभी तक छविनाथ मिश्र के मामले में वह अन्धी-गूँगी सिद्ध हो रही है। शायद यह स्थिति जीवन के बाद भी कवि ठहर पानेवाले आत्मातुष्ट कुछ नए कवियों का असमय ही चुक जाना देखकर समर्थ कवियों का उपेक्षित रहकर लिखते रहना कहीं अधिक आश्वस्त करता है। (दायरों में कैद जीवन की मुक्ति चिंता के कवि/ध्रुवदेवमिश्र पाषाण)। असाधारण व्यक्तित्व की यात्रा समय के साथ चुक नहीं जाती, इतिहास उसका मूल्यांकन अवश्य करता है। विचारधारा की कैद कवि प्रतिभा को सीमाबद्ध कर देती है। अनुभव की गहन दृष्टि के कारण छविनाथ जी देख पा रहे हैं कि हमारी संस्कृति, हमारा समाज, विज्ञान, दर्शन, कविता, कला, शिल्प और राजनीति

दिशाहारा स्थिति में है। हमारी अन्न चिन्ता और आध्यात्मिक चेतना दोनों खतरे में है। "छविनाथ जी किसी वाद के वादक लिए नहीं स्वीकारते। उनका विवेकी मन विचारधारा की क़ैद स्वीकार नहीं पाता। कवि 'स्व' की लक्ष्मण रेखा को पर के लिए सदा से लाँघता रहा है। यही तो है उनके भीतर का असली कवि जो सभी प्रकार के विचारों और विचारधाराओं को नकार कर 'मनुष्य' तथा मानव हित को सर्वोपरि मानता आता है।" (आस्था और सौंदर्य के कवि/श्रीनिवास शर्मा)। नयी कविता के प्रख्यात कवि जगदीश गुप्त के शब्दों में "कविता को मनुष्यता की मातृभाषा कहना गलत नहीं है। छायावाद युग में मनुष्य को केन्द्र में रखकर मानव कल्याण की दृष्टि को प्रमुखता मिली। समकालीन कविता में मनुष्य जीवन से जुड़ी विसंगतियों, विडम्बनाओं की भर्त्सना हुई, राजनीतिक और सामाजिक परिपेक्ष्य में आज का परिवेश उनकी कविता में व्यक्त है—

हरी पत्तियां तिजोरी में बन्द / कौन गिने / कुर्ते में कितने पैबन्द।

"कवि ने आज की स्थितियों से सीधा साक्षात्कार किया है। वह समय का आईना बन गया है।" (कविता में मुक्ति की तलाश / डॉ० सुकीर्ति गुप्ता)

स्थिति से सीधा साक्षात्कार अपने युग के अद्वितीय संकट के प्रति भी कवि को जागरूक करता है और कवि चेतना अध्यात्म के धरातल पर पहुंचकर संकट-मुक्ति के उपाय तलाशती है। क्योंकि वैदिक अवधारणाओं के आलोक में वेद और विज्ञान जिस बिन्दु पर एकाकार हो जाते हैं, कवि मानता है कि "वहीं से अदृश्य आग का एक आदिम छन्द हिरण्यगर्भों (आकाश गंगाओं, मन्दाकिनियों या तारापुजों) और असंख्य सौरमण्डलों के भीतर से विकास क्रम के अन्तिम बिन्दु तक नित्य स्पन्दित है। काव्य शिल्प के माध्यम से उसकी थरथराहट की पकड़, आत्म संस्कृति के बिना सम्भव नहीं। आत्म संस्कृति ही शिल्प है। यह शिल्प जब कविता में खुलता है तब उसका ताप हमारी मानसिकता पर तैरते अँधेरे के परमाणुओं को तोड़कर हमारे सौंदर्य-बोध और आनन्द-वोध को रचना की सार्थकता से जोड़ता है।" किन्तु यह सौन्दर्य बोध और आनन्द बोध उन्हें अध्यात्म और तंत्र की ओर अभिमुख करके भी कविता के साधना-आसन से उठने नहीं देता। "अध्यात्म और तंत्र की ओर आकर्षित होकर भी उनकी मुख्य साधनाभूमि कविता ही है। कविता जोवन की चोज़ों से पुराने स्थापित रिश्ते से अलग एक नया रिश्ता पैदा करती है। (कविता में सोचते हुए / डॉ० शम्भुनाथ) क्योंकि कविता की तलाश कवि की अन्तःचर्या है, रही है और रहेगी। कविता में जीना और चेतना की बारीक बुनावटों के बीच जीना कवि की काव्य यात्रा का लक्ष्य है। कवि स्वयं नहीं जानता कि कब कविता उससे जुड़ी। इसका उत्तर तलाश करते हुए उसके पास कोई प्रमाण भी नहीं है, न कोई गवाह है। कवि सिर्फ़ इतना जानता है कि जब कभी कविता उसके भीतर उतरने लगती है, वह आकाश होने लगता है। अपनी वाङ्मय नीरवता

के केन्द्र में एक अनाहत लय की तरह वह कविता को महसूस करता है। कविता के स्पर्श की अनुभूति जब शिराओं में थिरकने लगती है, कविता के ताप के दबाव से कवि अदृश्य आग का छन्द बन जाता है। कविता की ईश्वरतमा प्रकृति कवि के प्राणों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की तरह फड़कने लगती है।

अतएव कविता कवि के समय और इतिहास की इन्द्रतमा चेतना है, प्रतिकृति है, बोध और विवेक की अंगिरस्तमा संस्कृति है। यानी छविनाथजी का जोवन-संसार कविता के नगर में बसा है। तभी कभी उन्हें ऐसा प्रतीत होता है "कविता की संस्कृति की खोज के साथ कविता में जीने का सुख मेरे होते रहने का मर्म भी है और मजबूरी भी।" तो कभी "अपनी कवि चेतना और आम आदमी के एहसास को मुक्त एवं सहज करने की दिशा में अपने लिए कविता को एकमात्र ऐसा सच मानता हूं जिसे अपने परिवेश एवं समय की तमाम विसंगतियों तथा जीवन की अर्थहीन स्थितियों के विरुद्ध खड़ा करके मुझे एक मामूली और माकूल आदमी होने की लड़ाई लड़ते रहना बेहद जरूरी लगता है।" तभी तो शब्दों ने छविनाथजी को बूढ़े बाप को तरह सहलाया है, अपने काँपते हाथों से भाषा ने ममतामयी माँ की तरह प्यार को दूधिया रोशनी में कवि को नहलाया है और कविता में जीने की संस्कृति का सबक पढ़ाया है। तभी वह कह सका—

"कविता न तो बन्दूक है / और न मशीनगन है / लेकिन तिलमिलाती है। तो अँधेरे के आततायी आदमख़ोर / मुखौटों को भून देती है / मेरे दोस्त, मेरे हमदम ! तुम्हारी कसम—कविता जब किसी के पक्ष में या किसी के ख़िलाफ़ / अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है / तब वह ईश्वर से भी बड़ी होती है।'

अपनी ही धुन में कविता का एकतारा बजाता कवि आपादमस्तक कविता में सराबोर है। कम्पयूटर युग में जब कविता के प्रति पूर्ण उपेक्षा और रूखापन मिलता है, छविनाथजी का उत्साह खण्डित नहीं होता कविता के अस्तित्व के विषय में। टुकड़ों में बँटा आकाश खुशबू देता है, कविता में जीने का सुख कविता लोक में भ्रमण कराता है। कलम का दर्द कलम के बहाने रचनाकार के दर्द को मुखरित करता है। इन संग्रहों में गीतों की बहुलता है। कहीं बेला की टहनी पर सूनापन खिलता है, कहीं सिवान पार के पलाश-वन की चोख है, कहीं चुपचाप समय का बीतना कवि को अखरता है, कहीं सेमल के फूलों के खिलने भर से जीवन के पृष्ठ खुल जाते हैं, यादें उभर आती हैं, कहीं पीपल की टहनी से अंधियारा लटका है, कहीं जन्म भर के सँगाती को गीत मुन्दरी, स्वर नगीना सँभलवाया जाता है, कहीं यादों का आना अखरता है, एक छुअन

फागुनी यादों के नाम दिया बालती है किन्तु वियतनाम युद्ध का मर्मान्तिक दृश्य कवि के गीतों में दर्द को जन्म देता है—'जहरीली गैसों ने मिट्टी की साँस चुगी। खेतों को सूँघ लिया बारूदी बोध ने। पौधों की जगह कहीं उर्वर विस्तारों में लाशों पर लाश उगी'।

छविनाथ जी की एक पुरानी फाईल में टँगी श्री गुलाब सिंह की एक चिट्ठी मुझे उपलब्ध हो गई। नवगीत की उपर्युक्त पंक्तियों के सन्दर्भ में उक्त पत्र का स्मरण हो आया। "नवगीत अर्द्धशती समारोह दिल्ली की विचारगोष्ठी महत्वपूर्ण रही। डॉ० नगेन्द्र की अध्यक्षता, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, गिरिजाकुमार माथुर आदि की उपस्थिति में विजय किशोर मानव ने प्रभावशाली शब्दों में कहा— 'मैंने गम्भीर शोध के बाद पाया कि परम्परागत गीतों से नवगीत की ओर मुड़ने या दिशा देने में सबसे महत्त्वपूर्ण और अलग काम है—छविनाथ मिश्र का"। एक शोधार्थी द्वारा दिया गया वक्तव्य निश्चय ही एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व के मूल्यांकन की ओर ध्यान खींचता है। इसी सन्दर्भ में कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की पंक्तियाँ इसी क्रम के अन्तर्गत समीचीन होंगी। "परस्पर विरोधी खेमों में बँटा हुआ हमारा जनसंघर्ष सही नेतृत्व के अभाव में, शत्रु पक्ष को कोई गम्भीर चुनौती देने में अभी तक समर्थ नहीं हो सका है, और जनसाधारण में बदलाव के प्रति उत्साह की जगह हताशा पैदा करता रहा है क्योंकि उसे पता है, खेमों में बँटे हुए बहुत सारे लोग हमारे अपने नहीं हैं, उन्होंने अपने अपने हिस्से का समय संत्रास के नाम लिख दिया है और अब वे अधिक से अधिक सिर्फ़ हवा में चाकू धँसाकर जीने का अभिनय करना चाहते हैं जिसके फलस्वरूप एक ओर अपने देश के मुर्गानुमा नक्शे के पूरे क्षेत्रफल पर गैरजिम्मेदार लोगों का जुलूस कई टुकड़ों में टूटकर फिसल गया है। और यहाँ से वहाँ तक एक लावारिस सन्नाटा फनफनाता रहता है तो दूसरी ओर सार्वजनीन बोध की सलीब ढोती हुई एक लम्बी भीड़ दिशाहीन हो गई है।" यानी रचनाकार जब समय से साक्षात्कार करके, समय संवेदना को ग्रहण कर रचनारत होता है तब रचनाकार की भाषा बतलाती है कि काल विशेष के प्रति उसकी दृष्टि कितनी सूक्ष्म है। या वह रचना किसी विशेष उद्देश्य से संचालित है अथवा महज एक उच्छ्वास भर है।

ऋचागीत की चर्चा में यहां विशेष रूप से करना चाहूँगी। ऋचागीत में ऋग्वेद के विभिन्न मंडलों से ५५ ऋचाओं का चयन कर छविनाथजी ने उन्हें गीतों में रूपांतरित किया है। इसमें एक तरफ ऋचा का शाब्दिक अनुवाद है। दूसरो तरफ उसका गीतान्तरण। कवि जानता है कि हमारी संस्कृति, हमारा समाज, विज्ञान, दर्शन, कविता, कला, शिल्प और राजनीति सभी दिशाहारा स्थिति में हैं। भौतिक चेतना और आध्यात्मिक चेतना दोनों खतरे में हैं। एकमात्र मधुछन्दा संस्कृति ही सारस्वत धारा इस ख़तरे से हमारी रक्षा कर सकती है। स्वयं कवि के शब्दों में, 'विश्वरूपा रात्रि माँ की इन पंक्तियों के स्मरण मात्र से मेरी आँखें भर आती हैं'—

श्यामा माँ !
तुम निरन्तर सुकोमल पाँवों के सहारे
सरकती आ रही हो—
करीब बहुत करीब
क्या तेरे लिए
किसीने नहीं गाया है
कोई अन्त:स्फूर्त स्तोत्र;
कोई सम्यक् स्वागत गीत ?

आज ज्ञान, प्रेम अथवा रोशनी की रूह कहीं गहरे अँधेरे में खो गई है, जहाँ न आग है न ताप । और जहाँ आग नहीं, ताप नहीं, वहाँ संत्रास और भयावह संकट के सिवा होगा भी क्या ? प्रबुद्ध व्यक्ति सामाजिक चेतना को दिशा दे सकते हैं। कवि का मानना है कि एकमात्र आध्यात्मिक क्रान्ति से परिवर्तन सम्भव हो सकता है। ऋचागीत में यही उनका केन्द्रीय विचार है। कवि की बात से सहमत हैं **डॉ० जगदीश गुप्त** । वे कवि को लिखे गये अपने एक पत्र में कहते हैं—

'विशेषकर ऋचागीत ने नयी कविता की अभिव्यक्ति को वैदिक गरिमा से सम्पृक्त करके जो उदात्त रूप दिया है वह मुझे कवि बन्धु **नरेश मेहता** द्वारा खींची गयी रेखा को अतिक्रमित करता दिखाई दिया। मेरे मन में उन कविताओं को पढ़ते हुए न जाने कितनी स्वर्ण प्रतिमाएँ उभर आयीं जिनको आपके शब्दों ने असाधारण सूक्ष्मता और मौलिकता से स्थापित किया है। आपकी भाषा को आर्षवाणी का वरदान मिला है और आपकी कल्पना को सारस्वत मनीषा का'।

इसी क्रम में **श्री बशीर अहमद मयूख** के महत्वपूर्ण पत्र का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है—

"ऋषि मंत्रद्रष्टा रहे हों पर ऋचागीत में आप भाव द्रष्टा होकर प्रकट हुए हैं। अदृश्य अग्नि के उस हिरण्यगर्भा आदिम छन्द को आपने देखा है बल्कि मुझे यह कहने की अनुमति दें कि स्रष्टा और द्रष्टा और भोक्ता, से भी ऊपर उठकर, साक्षी मात्र रह गये हैं। 'ऋचागीत' इसका गवाह है—न द्रष्टा रहा-न स्रष्टा - द्रष्टा और भोक्ता होकर देखने वाली आपकी सुपर्ण दृष्टि अन्तत: साक्षी होकर 'ऋचागीत' उद्भूत कर गई।"

'वेद में छिपी है संपूर्ण कविता' में **डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल** का कहना है कि 'वैदिक ऋचाओं के इस काव्यानुवाद के भीतर से गुजरने पर यह बोध साफ तौर पर उभरता है कि आधुनिक मानव का संकट और प्रदूषण इस ऐतिहासिक क्षण से शुरू हो जाता है जब वह प्रकृति तादात्म्य से अलग कट जाता है। छविनाथ मिश्र ने काव्य संस्कृति की अनिर्वाण शिखा और कवि चेतना के संवाहक को दिशा छवि देने के विचार से 'ऋकसंहिता के महत्वपूर्ण अंशों का ऋचागीत में अनुवाद किया है। यह काव्यानुवाद

एक ऐसे सृजनात्मक अनुवाद का उदाहरण पेश करता है जिसमें मूल का मर्म खुलता पाया जा सकता है ।"

कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ, जयशंकर प्रसाद, निराला और नरेश मेहता तक इस धारा का काफी जोरदार असर रहा है । वेद को जब समझ लिया जाता है तो वह एक अद्भुत उदात्त विस्मयकारी और शक्तिशाली काव्य ठहरता है । साथ ही उसका यह आकर्षण तो है ही कि वह विश्वमानव का सर्वाधिक प्रबल और प्रथम काव्य स्फोट है । कवि यहां पृथ्वी, प्रकाश और अग्नि का स्रष्टा है ।"

कवि विस्मय से कहता है कि महाश्यामा रात्रि माँ अपनी अमृत ज्योति से अंधेरे को खदेड़ती हुई धीरे-धीरे उतर रही है । कालांतर में इसी माँ के दर्शन विवेकानन्द, अरविन्द, प्रसाद और निराला ने किये । निराला ने कहा है कि 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' । यही श्यामा महाकाली, तारा, त्रिपुर सुन्दरी है । विवेकानन्द की काव्य रचना में 'नाचुक ताहाते श्यामा' में यही मौजूद है । वैदिक दर्शन में वाक् प्राण मनस् (मैटर, एनर्जी, माइंड) सब चित्त शक्ति के रूपायन हैं । आज इन्हें विज्ञान खोज रहा है । इसे तारा भौतिकी (Astro Physics) समझ रहा है । वैदिक चिंतन में जो नाचिके अग्नि है, वैश्वानर है वह आज भी हमारे काम का है क्योंकि अग्निगर्भ वाक् तत्व ही मानव की आत्म चेतना, वस्तु चेतना, रस चेतना, विज्ञान चेतना का आधारभूत सत्य है । इस सत्य से हमारा परिचय हो सके—इसलिए 'ऋचागीत में चुनिंदा ५५ ऋचाओं के गीतांतर का सराहनीय प्रयास किया गया है । मिश्रजी पिछले २० वर्षों से वैदिक साहित्य की साधना में समर्पित रहे हैं । उनके लिए कविता एक आश्वासन है । आश्वासन आदिम छंदों की हिरण्यगर्भी चमक और गंध को वे यहां गीतों में प्रकृत लय और काव्य-गति से उतारने में काफी हदतक सफल हुए हैं । वे साधुवाद के पात्र हैं और ऋचागीत बार-बार पढ़ने - समझने लायक अमूल्य चीज़ है ।"

ऐसे प्रतिभा पुरुष के सम्मान में उनकी दो काव्य पुस्तकें ऋतुरंग और सुनो कविता मेरा नाम ईश्वर है का प्रकाशन कर **प्रतिध्वनि** परिवार स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर रहा है । इसी अवसर पर **कवि छविनाथ मिश्र : सृजन एवं संघर्ष** का सम्पादन-प्रकाशन का दायित्व मुझे दिया गया । इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझती हूं । कवि छविनाथ मिश्र मेरे मानस पिता हैं और जिन श्रेष्ठ कृतिकारों के लेख इसमें संकलित हैं, वे सभी मेरे श्रद्धास्पद गुरुजन हैं । निबन्धों के माध्यम से सबका आशीर्वाद-स्नेह मुझे प्राप्त हुआ, इसके लिए मैं सबको विनयपूर्वक प्रणाम करती हूं ।

मेरे युवा कवि बन्धु **राजेन्द्र काननगो** ने इस पुस्तक का आवरण तैयार किया और कवि कलाकार **संजय बिन्नानी** ने **कवि श्री गुलाब सिंह** का लेख उपलब्ध कराया, इसके लिए दोनों के प्रति मेरा स्नेह आभार । ●

इन्दु जोशी

कवि छविनाथ मिश्र

सृजन एवं संघर्ष

सृजन

वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति	कल्याणमल लोढ़ा	१७
छन्दों का रक्षा कवच पहने समय से जूझता एक कवि	अक्षयचन्द्र शर्मा	२४
साधारण किन्तु समर्पित व्यक्ति की असाधारण ज्योति-यात्रा	विष्णुकान्त शास्त्री	२८
दायरों में क़ैद जीवन की मुक्ति-चिन्ता के कवि	ध्रुवदेव मिश्र पाषाण	३१
आस्था और सौंदर्य के कवि	श्रीनिवास शर्मा	४१
अपराजित आस्था के कवि	नीलम श्रीवास्तव	५६
आरम्भ ज्योति-यात्रा का (१९४५-५५)	मृत्युञ्जय उपाध्याय	६१
कविता में मुक्ति की तलाश	डॉ० सुकीर्ति गुप्ता	७५
कविता में सोचते हुए	डॉ० शम्भुनाथ	८१
छन्द पुरुष	डॉ० इन्दु जोशी	८६

संघर्ष

ऋषि कल्प जीवन की अनुगूंज	गुलाब सिंह	९१
बृहत् ज्योति के प्यासे	डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र	९८

सृ ज न

कल्याणमल लोढ़ा

वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति

छविनाथ मिश्र के काव्य और उनके रचनात्मक सौन्दर्य पर विचार करने पर मुझे कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के निम्न कथन का सहज स्मरण होता है, जिसे प्रियंवदा ने शकुन्तला को दुष्यन्त का पत्र देते समय कहा था, "तेण हि अत्तणो उवण्णास पुव्वं चिन्तेहि दाव ललिअपदबन्धणं (तेन आत्मानं उपन्यास पूर्वं चिन्त्य ता वल्ललित पदबन्धनम्)। (३ रा अंक), इसका सार तत्व है कि काव्य रचना में निश्चित योजना हो, "ललितपद बंधन' हो और "उपन्यास पूर्व" चिन्तन के साथ-साथ 'तेन

ध्यात्मनं'—अर्थात् यह मेरी मन:स्थिति अनुभूति की ही सार्थक अभिव्यक्ति हो। उत्तर में शकुन्तला कहती है—'हला चिन्तिदं मए गीदवत्थु' अर्थात् गीत की मानसिकता तो स्पष्ट है। इसके पश्चात् शकुन्तला सखियों से (अर्थात् श्रोता अथवा पाठक से) जानना चाहती है कि गीत कैसा बन पड़ा। कालिदास ने इस सन्दर्भ में रचनाकार की मानसिकता, चिन्तना, अनुभूति और अभिव्यक्ति के लालित्य को स्पष्ट कर दिया है। वस्तुत: यही सही अर्थ में कवि की रचना-प्रक्रिया है। छविनाथ मिश्र की काव्य प्रक्रिया का यही आधार है। उनकी कविता केवल भावावेग में लिखी गई शब्द रचना का वृथा मुखौटा नहीं है। अपनी बात को स्पष्ट करने के निमित्त प्रसाद का यह उद्धरण अपेक्षित है। प्रसाद कहते हैं "कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत का अन्तर्जगत से सम्बन्ध कौन कराती है, कविता ही न !"(स्कन्दगुप्त)। प्रसाद का यह उद्धरण कविता का सार्थक प्रयोजन निर्धारित करता है। वह वर्णमय चित्र है और है भावपूर्ण संगीत। उसका उद्देश्य है सत्य, शिवत्व और सौन्दर्य के साथ-साथ मानवीय चैतन्य का सार्वकालिक-सार्वभौमिक रूपायन, जिसमें कवि का अन्तर्मन बाह्य प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर विराट 'विजन' को देखता है—इसीलिए आलोचकों ने इसे 'अन्तर्मन की गूढ़ विराटता' कहकर प्रभविष्णुता का उल्लेख किया है। कविता वर्णचित्र व संगीत की त्रिवेणी है।

छविनाथ मिश्र का काव्य इसी त्रिवेणी में पाठक को अवगाहन कराता है। सजगता और सहजता से कवि वस्तुजगत और आभ्यन्तर जगत में कलात्मक सामंजस्य स्थापित करता है। उसका काव्य जहाँ दार्शनिक चिंतन की गम्भीरता को आत्मसात किए हुए हैं वहाँ उसमें कवि खुली दृष्टि से काव्य जगत का ऐन्द्रिय बोध के द्वारा, जड़ का चेतन से समन्वय करता है। उसमें प्रकृति केवल उद्दीपन ही नहीं आलम्बन भी है—। यही छविनाथ मिश्र के काव्य की अन्तर्धारा है, जिसमें कवि वस्तुजगत से उठने वाली लहरियों के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रिया से अपनी अनुभूति व्यक्त करता है। इस रचनात्मक संवेदना में मानसिक तनाव या सोच की भूमिका रहती है अथवा छविनाथ मिश्र के शब्दों में 'क़लम का दर्द'। कवि का रचना फलक अत्यन्त व्यापक है और उसका कर्म 'स्वरूप विश्रांति' का उद्यापन है जिसे कवि 'कविता में जीने का सुख' कहता है। कवि चिन्तक की मनसा सृष्टि का यही असाधारण क्षण, युगबोध अथवा 'समय का दंश' स्मृति और सर्जना के साथ साथ भारतीय संस्कारशीलता का सक्षम प्रमाण है। छविनाथ मिश्र के सृजन की अभिप्रेरणा देश और काल दोनों से स्वत: सिद्ध है—वह मानवीय संस्कृति का संधान करती है। काव्य विकास की यात्रा में कवि विभिन्न सोपानों पर चढ़ता हुआ अद्यावधि प्रज्ञा भूमि पर पहुंचता है, जहाँ उसकी परिपूर्णता आत्मसाक्षात्कार में है। याज्ञवल्क्य वृहदारण्यक श्रुति में कहते हैं 'आत्मनस्तु कामाय

सर्वप्रियं भवति' (२-४-५) आत्मभाव की यह व्याप्ति सचराचर जगत की प्रियता में रूपायित होती है। शब्द को ब्रह्म और हृदय को आत्मा (हृदि अयम्) कहने वाले भारतीय मनीषियों ने काव्य के श्रेयस् और प्रेयस् की विवेचना कर कवि को प्रजापति से भी श्रेष्ठ गिनते हुए उसे 'कविर्मनीषी परिभू:स्वयंभू:' कहकर वाणी को कामधेनु गिना है। कवि की मानस सृष्टि परम सत्य का संधान कर सम्पूर्ण विश्व में ज्ञात-अज्ञात जिस साम गान को सुनती है, उसका रचनात्मक सौन्दर्य इसी कलात्मक अभिनिवेश में प्रज्ञप्त होता है, क्योंकि प्रतिभा और प्रज्ञा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

कवि मिश्र की काव्य साधना 'अंगना फूले कचनार' (१९६२) से प्रारम्भ होती है। वह 'समय दंश' (१९७१) की पीड़ा सहता सहलाता हुआ फिर 'टुकड़ों में बँटा आकाश' को देखता है और फिर 'ऋचा गीतों' में जातीय संस्कारों से पोषित होकर पुन: 'क़लम का दर्द' की साक्षी देता है। 'अंगना फूले कचनार' में 'मुट्ठी भर माटी' और 'अंजुरी भर आकाश' में अपने परिवेश का परिदृश्य रेखांकित कर कहता है "पनघट से मरघट तक की दौड़ धूप, दिशाहारा युग की विवर्ती यात्राएँ, विश्वासों के पारदर्शी अन्तस् की विवशताएँ, यही हैं मेरे उपादान जाने पहिचाने उपमान, आलम्बन—यही है मेरा माध्यम। 'अंगना फूले कचनार' में कवि का 'मानसिक तनाव', विक्षोभ और संकट ही रचना का प्रमुख अभिधेय है। आज मनोवैज्ञानिक भी यह स्वीकार करते हैं कि किसी भी कलात्मक सृजन के लिए 'डिप्रेशन' होता ही है, क्योंकि यह शारीरिक आवेगों के साथ-साथ मानसिक प्रत्ययीकरण का परिणाम है। विसंगतियों को झेलता हुआ वह (स्व हस्ताक्षरित) कहता है—

"धुंधले क्षण भींगे सपनों से सुधि का आंगन भर जाते हैं
हरसिंगार के फूलों जैसे फूल नयन के झर जाते हैं
सांस-सांस के लेन-देन की चन्दनगन्धी बीती वेला
उभर उभर आती है बरबस बासी गीत निखर जाते हैं"

प्रथम कृति का एक और धरातल है 'चाँद की किरण-किरण परसे, प्यार बरसे। इस आकांक्षा का कारण है—

"दमकती हुई रुपहली रेत
चमकते हुए शबनमी खेत
गा रहे शान्ति गीत समवेत"

इस कविता में कवि प्रकृति की रस भींगी मदमाती सौंदर्य श्री का अवलोकन कर पूछता है —

कौन हो तुम जो कि मेरी कामना के
विजन प्रांतर में कहीं से

आ गयी हो भूल से बहकर अचानक प्रीति की
मंदाकिनी सी

'अंगना फूले कचनार' में प्रेम की प्यास और आकांक्षा जोवन की जिजीविषा का प्रमाण है न कि आरोपित कृत्रिम रूमानियत का। प्रथम संग्रह ही यह प्रमाणित करता है कि छविनाथ मिश्र का कवि फंतासी की वायवी उड़ान नहीं भरता है—फंतासी में बिम्ब विधान, कल्पना व भाव संहति का अभाव रहता है क्योंकि उसमें कल्पना और बिम्ब ग्रहण का नियोजन अतिशयोक्ति पूर्ण अनियन्त्रित और संदिग्ध व निराधार कल्पना रहती है और यहो कविकर्म की विशृंखलता और विच्छिन्नता है जिसे आधुनिक आलोचना में 'एलिनेशन ऑफ दि सेल्फ' कहा जाता है।

छविनाथ मिश्र की दूसरी काव्य कृति है 'समय दंश'। इसमें कवि की सृष्टि का आयाम बदल जाता है—वह है क्रान्त दृष्टि। प्रथम कविता 'समय दंश: 'अपने खिलाफ युद्ध' ही इसका प्रमाण है—

मुझे लड़ना है
या तो जूझने के लिये
या टूटने के लिए
मैंने ख़ुद को तैयार कर लिया है कविता के लिए
और अपने ख़िलाफ युद्ध करने के लिए।

युयुत्सा का पक्ष जितना समकालीन है, उतना ही सार्थक भी। 'समय-दंश' का एक और पहलू है कवि की निस्संगता, उसका अकेलापन। नयी कविता में लघुमानव के भावबोध के पीछे भी यह निस्संगता स्पष्ट है। कवि कहता है—

हम कहीं नहीं हैं
और कहीं न होने का यह अकेला अहसास
बेहद टीसता है
भीतर ही भीतर कैंसर की तरह धँसता है।

अकेलेपन का यह अहसास निराला, नजरुल और अंग्रेजी कवि शेली को भी हुआ था। (शेली का कवितांश है 'आन दि वाइड शोर आफ दिस ओशन आइ स्टेंड एलोन एण्ड सिंग) निराला—"मैं अकेला, देखता हूं आ रही मेरे दिवस की सांध्य बेला।"

आधुनिक काव्यालोचना में दो प्रसिद्ध शब्द हैं 'ऐम्पेथी' व 'सिम्पेथी' "Empathy is the projection of ourselves into or the identification of ourselves with the object either animate or inanimate sympathy is the fellow feeling with the ideas and emotions of other human beings or with animals of whom we attribute human ideas and emotions." इन दोनों से

कवि अपने अहम् का तादात्म्य इदम् से करता है और इसके लिये संवेदनात्मक मनः स्थिति से वह सामान्यीकरण अथवा (पेथेटिक इमोशन) से अनुभूति का साधारणीकरण करता है। रचना की इस प्रक्रिया में सौंदर्य का विशेषीकरण (स्पेसिफिकेशन) होता है। सौंदर्य के इस विशेषीकरण के लिये कहा जाता है। "Aesthetic or physical distance, rather than spatial or temporal concepts. It is meant to subscribe the attitude of perspective or a person towards an object (Aesthetic distance term was coined by Bulioghe in 1912) 'अंगना फूले कचनार' से 'समय दंश' और इसके अनन्तर 'ऋचागीत' और 'कविता में जीने का सुख' व 'टुकड़ों में बँटा आकाश' में छविनाथ मिश्र का कवि अपनी रचना धर्मिता की विकसनशीलता का पुष्ट प्रमाण देता है। प्रत्येक कवि के भीतर एक सर्जक रहता है और एक चिन्तक-आलोचक भी जो उसके काव्यपथ का नियोजन करता है। इस नियोजन के द्वारा ही हम उसके 'प्राइमरी थाट' और 'सेकेन्डरी थाट' का अन्तर एवं सौन्दर्य का विशेषीकरण समझ सकते हैं। इसे ही आज की शब्दावली में तादात्म्य की खोज (Search for identity) कहते हैं। 'ऋचागीत' में कवि ने वैदिक ऋचाओं का भावानुवाद किया है। ऋचाओं का संकलन उसको रुझान भी स्पष्ट करता है। यह वस्तुतः कवि की सच्ची अस्मिता है।

ऋचागीत वैदिक ऋचाओं के अनुवाद के साथ साथ छविनाथ मिश्र की चयन दृष्टि भी महत्व रखती है। इसका समर्पण 'अनिर्वाण शिखा' व कवि चेतना के संवाहकों को किया है। इस कृति का कवि दार्शनिक और सांस्कृतिक चेतना का धनी है। आमुख में उसका स्व-कथ्य इसे स्पष्ट करता है। वह सूर्य की (ऊषा सविता व आदित्य कहना अधिक संगत होगा) ज्योति का 'भर्गोदेवस्य धीमहि का' मंगल गान है। वेदवाणी 'पश्य देवस्य काव्यम्' का प्रमाण है। अनिर्वाण को 'वेद मीमांसा' ने उसे इस अनुवाद की ओर अभिमुख किया। कवि कहता है कि कविता हमारी मानसिकता पर उज्जवल उदात्त चेतना का आलोक बिखेरती है। वह हमारी संस्कृति का इतिहास है। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा ही (अग्निमीले) सूर्य—अग्नि की ऊष्मा का दिव्य संगीत है। वैदिक मंत्रों के रहस्यात्मक गूढ़ मंत्रों का अनुवाद गहरी सूझबूझ के साथ वैदिक ज्ञान-संज्ञान के बिना सम्भव नहीं, 'ऋचागीत' इसका साक्ष्य है कि कवि अनुवादक अपनी अन्तर्दृष्टि से इन मंत्रों में अन्तर्निहित तथ्य-तत्व-अभिधेय को प्रतिध्वनित करता है। इन ऋचाओं के अनुवाद और उनकी शिल्प शैली पर एक स्वतन्त्र आलेख अपेक्षित है। यहाँ यही कहना पर्याप्त होगा कि इस कृति में भी श्री मिश्र कवि के साथ-साथ एक दार्शनिक के रूप में भी उभरे हैं। यह उनके वैदुष्य को प्रतिपादित करता है। मेरा निवेदन है कि वे उपनिषदों के कुछ और मंत्रों का भी अनुवाद करें। भारतीय चिन्ताधारा में ऋत व सत्य का विवेचन दार्शनिक व आध्यात्मिक प्रतिपत्तियों का शाश्वत निदर्शन है। जिसमें

ब्रह्माण्ड के सनातन स्वरूप व इसकी दिव्यता का प्रतिपादन है। इन मंत्रों का अनुवाद पाठकों को और श्रेयस्कर लगेगा।

ऋचागीत के पश्चात 'कविता में जीने का सुख' में कवि की विधायिनी शक्ति और कारयित्री प्रतिभा अधिक परिपुष्ट है। वह स्वीकार करता है कि संरचना, वस्तु और बुनावट, रूप-रंग, भाषा-छन्द-बंध के टटोलते रहने तक कविता नहीं होती। यद्यपि यह 'इतिहास की शर्त' भले ही हो। वह अपेक्षाओं-उपेक्षाओं के बावजूद जितना भी मिला है और उसे पाने के लिए जितनी मानसिक यंत्रणाओं से जूझना पड़ता है, वही उसकी काव्य चेतना के प्रतीक व बिम्ब रहे हैं—उन्हीं के "माध्यम से **मैं अपनी बौद्धिक एवं रूमानी अन्तश्चेतना अथवा मनश्चेतना की भूमि पर अस्तित्व के काव्यात्मक पक्ष** से ही जुड़कर समय बोध के साथ अपनी सम्भावनाओं को उकेरता रहा हूं।" कविता की यह तलाश और काव्यात्मक पक्ष से जुड़कर संभावनाओं की यह खोज एक ओर उसके मानसिक अवसाद को स्पष्ट करती है, तो दूसरी ओर नवीन पगडंडियों की पहचान भी। मानव मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति में जीकर, कवि चेतना के उन स्तरों पर अपनी अभिव्यक्ति खोजता है, जिसे आर्थर कोयस्लर ने 'दि एक्ट आफ क्रियेशन' में 'वायोसियेटेड फीलिंग्स' कहा है। ऐसी अभिव्यक्ति जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष को अनुभूति और परिकल्पना में समाहित करती है। कला जीवन की अर्थवत्ता की सार्थक खोज है। 'कविता में जीने का सुख' की एक कविता में वह कहता है—

अपने देश के लिए
अपनी कविता के लिए
एक भाषा गढ़ना चाहता हूं
इन फैले हुए हाथों का अर्थ है
जीना चाहता हूं"

'सुनो कविता' में उसका उद्‌बोधन है

' सुनो कविता
तुम मेरे इतिहास की इन्द्रतमा चेतना हो
प्रकृति हो
मेरे बोध और विवेक की
अंगिरस्तमा संस्कृति हो।

'कविता में जीने का सुख' 'टुकड़ों में बँटा आकाश' में और गम्भीर होता है। वह कविता की सुगन्ध और गुणवत्ता की पहचान का हिमायती है और 'टुकड़ों में बँटा आकाश' 'उसके भीतर—बाहर और इर्द-गिर्द के वाङ्‌मय आकाश की पहचान और अन्विति का एक दरका चिटखा आईना है, जिसके कई टुकड़ों में प्रतिबिम्बित है मेरे रचना संसार का

एक हिस्सा और अंकित है मेरी कविता यात्रा के कुछ परिदृश्य और कुछ पड़ाव।' इस काव्य में जहाँ सूनापन खिलता है वहाँ 'सेमल के फूल भी खिले' हैं और 'चाँदनी बटोरे भी है—'वेला फूल आँचल में भरे हैं। आकाश टुकड़ों में बँटकर अपने असीम विस्तार में अमूर्त होकर भी धरती की गन्ध पाकर मूर्त हो उठा है। कवि 'कुहरे में डूबे नगर के साथ' 'एक पंखुड़ी जवा कुसुम को' भी है। वह 'अनाम मत्स्यकन्या' की हथेलियों पर आलोकवर्षी प्रात धर देता है और निष्कलुष हंसी के लिए एक बार फिर जी जाता है। सन् १९६१ से १९८५ तक की इन कविताओं का समवेत स्वर कवि के व्यक्तित्व और उसकी जिजीविषा की अर्थवत्ता की 'सार्थक खोज' है। इन कविताओं में अतीत मुखर है तो वर्तमान स्थापित और भविष्य की सम्भावनाओं की प्रतीति जो १९८५ के साथ ही समाप्त नहीं होती।

छविनाथ मिश्र का काव्य जिजीविषा की ऊर्जा से सम्पन्न होकर जीवन की सत्वर गति का हेतु है और अतीत, वर्तमान एवं भविष्य का सेतु। वह श्रोत, क्रान्त और श्रान्त दृष्टि से सम्पन्न है—इतिहास और समय-सापेक्ष। उसमें कहीं उपरति या विश्राम नहीं। मेरी धारणा है कि काव्य-रचना की अनुभव प्रक्रिया में संस्कारों का योगदान रहता है। कालिदास का कथन है 'फलानुमेया प्रारम्भः संस्काराः प्राक्तनाइव'। कवि मिश्र संस्कारशील कवि हैं और यही है उनकी मानसी सृष्टि। यहीं से कवि 'सवासन' बनता है—सवासन अर्थात् विशिष्ट संस्कार सम्पन्न व्यक्ति। कवि के ये संस्कार जन्मजात और अर्जित दोनों होते हैं। आचार्य कुन्तक का भी यही मत था 'प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कवि शक्ति' ? अनुभूति समाप्त होकर संस्कारों से पोषित होकर अभिव्यक्ति का कलात्मक सौष्ठव बनती है। भाषा, छंद विधान और शिल्प और शैली तो इसी के सहयात्री होते हैं। अज्ञेय ने 'चेतना की इस धारा को 'उर्वरा बनाना' कहा है—यह प्रक्रिया ही कवि का मानसिक रूपान्तरण है और है आभ्यंतरीकरण के साथ उसका अभ्यारोह। यही 'कवित्व बीजम्' है—शब्द और अर्थ का अर्द्धनारीश्वर। छविनाथ मिश्र का विभिन्न पड़ावों में आरोहण स्वतः प्रमाणित है। वे प्रसिद्ध दार्शनिक अनिर्वाण के शिष्य (मंत्र दीक्षित न होकर भी) हैं—उनकी दार्शनिक प्रज्ञप्ति का कवि मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा है। प्रेरणा और प्रभाव का यह परिपाक ही काव्य सृष्टि की परमता प्राप्त करता है, जिसमें अनुभूति, संस्कार और कलात्मक सौष्ठव चेतना की ऊर्ध्व गत्वरता में परिपक्व होता है। 'वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति (शतपथ ब्राह्मण १-३-२-१६)। ●

अक्षय चन्द्र शर्मा

छन्दों का रक्षा-कवच पहने समय से जूझता एक कवि

पैंतीस वर्षों के लम्बे कालखण्ड से मैं कविवर छविनाथ मिश्र को जानता हूं, एक कवि के रूप में। विशुद्ध कवि; न राजनीति, न दल, न वाद, न कौशल, न चातुर्य, न किसी की 'छवि' संवारना और न किसी की 'छवि' बिगाड़ना! इस बीच में कितने ही कवि आये, वह गये, भटक गये, पा गये, खो गये, बढ़ गये, चढ़ गये। पर छविनाथ वहीं पर, एक कवि! अंगद के वज्र चरण से एक ही जगह टिके!

चारों ओर आकर्षण-विकर्षण, आँधी अंधड़, झंझावात और साथ ही सुविधाओं की मधुर मलय समीर के सुहावनें झोंके इन सबके मध्य कवि ने अपनी कविता-साधना को जीवन्त रखा। यह दीपशिखा एक सी रही—काँपती, थरथराती बराबर जगमगाती और अपने को बचाती!

कवि में मूलतः गीतात्मकता है, मधुर मधु-कोश है,—
कवि के भीतर एक सन्त है, एक मनीषी है, एक छान्दस् चेतना है, उपनिषदों का प्रसाद है, वैदिक ऋषि की मधुमयी वाणी के यत्रतत्र स्निग्ध छींटे हैं, चिर युवती उषाओं की अरुणाभ आलोक रेखाएं हैं; यही भीतर का अन्तःशौर्य है, अखण्ड धैर्य है—जो कवि को जीवन्त रख सका है।

विषम परिस्थिति है, स्वप्न भंग की स्थिति है, चतुर्दिक सूनापन और उजाड़ है—एक अन्तहीन उदासी है; फिर भी भीतर का रस कविता को सूखने नहीं देता —

(क) 'आओ, कुछ क्षण जी लें गन्ध बांटते हुए
आंखों में हम गुलाब रंग आंकते हुए
मौन रचें—
शब्दों संवादों को तोड़ दें
भाषा जो हमें कभी
काट-काट देती है
चलो कहीं
चुपके से जंगल में छोड़ दें

मिट्टी से जुड़ा कवि

कवि की लम्बी यात्रा अपनी मिट्टी से जुड़ी है, वह बाहर से नहीं भीतर से अपने को समृद्ध करने का आकांक्षी है। विषम स्थिति में भी न तो निराश है; न ध्वंसकारी शैतानी विप्लवी, असंयत आक्रोशी भाषा का तेवर है; न परिस्थितियों की विषमता मे आत्मघाती टूटन है—कवि स्थिति का गहरा चितेरा है, पर उसके भीतर भी कुछ रचने, साथ-साथ चुगने, साथ-साथ उड़ने का सन्देश वाहक है। कुहरा है, पर चीरने का प्रकाश वाही सन्देश भी है। वह चाहता है—जीवन के अनेक अनपहचाने धुंधभरे कोने में जाना और वहां परिमार्जन कर - जीवन के लिये नये रतनों को चमकाना। कवि सर्वत्र विश्वास का दीप संजोए, कुछ करने, कुछ संवारने, कुछ बदलने का आकांक्षी है। जीवन के प्रति आस्था, परिस्थिति की विषम स्वीकृति के बीच भी अकुंठित जीवनसाधना और भीतर से सृजनधर्मी ललक— कवि को चिर युवा बनाये हैं।

अपने ही मिट्टी का प्यार से जतन करो
जीवन के अनमांजे
रूपों को रतन करो

ऐसा कुछ रचो—जुड़ें
साथ साथ चुगें उड़ें
कुहरे को चीर
मुक्त अपना ही गगन करो
अपनी ही मिट्टी का प्यार से जतन करो।

मिथकीय चेतना—युग-चित्र

कवि ने रामायण कालीन चिरपरिचित पात्रों, घटनाओं, व्यक्ति-बिम्बों के द्वारा राष्ट्र व्यापी पूरे यथार्थ को—आन्तरिक पीड़ा व्यथा को, दयनीय स्थिति को उभारा है—जहां कोई आशा का संकेत नहीं—केवल कथन का शोर है। यदि हम यथार्थ को सही रूप से अंकित करते हैं और उसे स्वीकारते हैं तो भी भीतर सोयी हमारी अग्नि चेतना फिर धधकने को आतुर हो जाती है, भस्म का कितना ही माया अवगुण्ठन हो।

कोई नहीं स्वीकारता है
किसी राघवेन्द्र की भूमिका
कहीं नहीं दिखता
पथराई अहल्याओं को उबारने का संकेत
और धनुष तोड़ने की प्रतिज्ञाएं
मुट्ठियों में बांधे

वापस जा रहे हैं—
मुखौटा लगाये तमाम पराजित, परिचित चेहरे
पंचवटी से पंचशील तक
चीख रहा है छद्म ओढ़े कोई अदृश्य मारीच
स्वर्ण-मृग का लोभ
लक्ष्मण-रेखा के टूटने की मजबूरी
महातपा वैदेही चेतना की
क्षितिजों पर कराहती आवाज़
जटायु-बोध
और दशमुख आक्रोश —

मुझे अपने क़लम को सही-साबूत रखना है

कवि चाहे जहां रहता है, जहां जाता है, जहां सोता, उठता, बैठता है—सब जगह सभी विरोधों विरोधाभासों, सुविधाओं, विश्वासों, निराशाओं, विडम्बनाओं, विद्रूपताओं, विकृतियों के बीच सभी को झेलता हुआ भी—कहीं अपनी व्यक्ति-सीमा में नहीं आता—सदैव एक कवि होने की साधना को साधे है। कवि बदलते परिवेश में समझौतों के, सुविधावादी स्वीकृतियों के मध्य—बिना कुण्ठा के, बिना प्रलोभन के, बिना संशय द्विधाग्रस्त मानस—एक ही साधना में रत है—वह है—

मुझे अपने क़लम को
सही - साबूत रखना है।

सचमुच कवि की क़लम—जीवन के विविध रूपों का चित्रण करते हुए भाषा, छन्द, शब्द, मुहावरे, नये संदर्भ के बदलाव को स्वीकार करते भी सही रही है और साबूत भी। प्रायः कवि स्याही बदलते रहे हैं, ईमान बदलते रहे हैं, कभी क़लम से लिखा है, कभी पार्कर पेन से और कभी हथौड़े से। और स्याही में भी मिलावट—जिसमें खूब पानी—जिससे स्याही फीकी हुई है। इस मिलावट में कितना फ्रॉड मिला है। कोई रूस के गुण गाकर—रूस घूमा है; पूंजीवादी व्यवस्था से पूरा लाभ उठाता—ग़रीबों का मसीहा बना है और कोई अमेरिका में घूमता 'नया' लाकर—व्यक्ति को बचाने का नाटक रचता रहा है और क़ोई सभी व्यर्थ है—का दिखावा करता जीवन के भोगों को भोगने में तल्लीन रहा है—ऐसे वातावरण में 'कलम को सही साबूत' रखना—एक आंतरिक तप है, यह किसी भोगी वियोगी का काम नहीं—भीतर कोई अलख जगाता योगी हो—तभी यह कृच्छ्र साधना संभव है। वाङ्मय तप है—सचमुच तप है। श्री छविनाथ मिश्र का कवि उस 'तप' में तपता निरन्तर निखरता, बिखरता रहा है ! यह साधना स्पृहणीय है।

●

विष्णुकान्त शास्त्री

साधारण किन्तु समर्पित व्यक्ति को असाधारण ज्योति-यात्रा

श्री छविनाथ मिश्र न केवल देखने सुनने में बल्कि चाल-ढ़ाल, व्यवहार, में भी साधारण लगते हैं। वे उन लाखों लोगों में से एक हैं जिन्हें रोटी-रोज़ी की तलाश ने विवश कर दिया। 'पौधों के घर से हरियाए मैदानों तक' गमक रहा गीतों का केवड़ई अंगनवा' छोड़कर कंक्रीटी महानगर में रोज़ बस ट्रामों में एक युद्ध जीने की यंत्रणा' सहेजने के लिए। फिर भी यदि वे धुन्ध और अंधेरा ओढ़कर अपने आगे पीछे चलने वाले मुखौटा पहने असंख्य लोगों की भीड़ में खो नहीं गये तो उसका एक मात्र कारण है कविता के प्रति उनका एकान्त समर्पण। कविता उनके लिये न विलास है, न यश, वैभव मान, सरमाये की तलाश। कविता उनका अन्तरंग अस्तित्व है इसीलिए अपनी समझ के हाशिए के बीच कविता की संस्कृति की खोज के साथ कविता में जीने का सुख' उनके होते रहने का मर्म भी है और मज़बूरी भी। बड़ी ईमानदारी के साथ उन्होंने कहा है, सुनो कविता····· जब कभी भी तुम मेरे भीतर उतरने लगती हो। मैं आकाश होने लगता हूं।' कोई आश्चर्य नहीं कि तमाम प्रतिकूलताओं से जूझने की प्रेरणा जुगाये यह अनुभव और वे कह उठे 'मुझे जीना है—। रोटी और कविता के बीच दबोची हुई/ अपनी रचना के इकलौते आकाश की सुरक्षा के लिए / मुझे लड़ना है / एड़ी से चोटी तक उगते हुए / खून और पसीने के लिए।' कविता की उँगली पकड़े एक साधारण व्यक्ति की यह संकल्पबद्ध जिजीविषा अपने समर्पण की निश्छलता के कारण एक आधारण ज्योति-यात्रा बन गई है।

यात्रा के आरम्भ में कवि का आत्मीयतापूर्ण नाता था ग्राम प्रकृति से। सूरज को अपना सखा मानकर ही उन्होंने कहा होगा 'लौटा है किरणों की डोरी लपेटकर दिनभर का थका-थका व्योम का खिलाड़ी।' चाँद और प्यार उन्हें पर्यायवाची से लगते होंगे अन्यथा वे कैसे कह पाते—'चाँद की किरण-किरण परसे, प्यार बरसे।' तब उन्हें लगता था, जिन्दगी है फूल, प्रेम फूल का पराग है।' मिट्टी का संजीवो संदली सपनवा' देखते हुए ही उन्होंने अपनी प्रिया से पूछा होगा, कौन हो तुम जो कि मेरे प्राण के नीलाभ अम्बर में युगों से। चमकती हो ज्योति बनकर तुम अचानक प्रीति की सौदामिनी सी।' ये सहज स्वच्छन्दता से भरे उद्‌गार कवि व्यक्तित्व की ऋजुता के प्रमाण हैं। इन गीतों में 'मुट्ठी भर माटी' और 'अँजुरी भर आकाश' घुलमिल कर एक हो गये-से

लगते हैं। इनकी सहज आवेगमयता वैयक्तिक होकर भी सर्वजनीनता को समेटे हुए है।

'समय-दंश' से विह्वल होकर छविनाथ मिश्र ग्राम से महानगर कलकत्ता आये। आधुनिकता के कठोर स्वार्थपरक रूप के निर्मम साक्षात्कार ने एक ओर उनके कुछ भोले सपनों को तोड़ा तो दूसरी ओर उन्हें यथार्थ के प्रति सचेत भी बनाया। उन्हें लगा कि जीवन में केवल प्यार ही नहीं संघर्ष भी है कपट, पाखंड, अनाचार अत्याचार भी है। प्रवंचना के तीखे अहसास से उनका कवि कह उठा, 'हमारे हिस्से का समय, हमारे कुछ आत्मीय नुमाइन्दों ने हड़प लिया है। हमने पढ़ लिया है पूरा का पूरा वसीयतनामा। हम किसी के हिस्से में नहीं हैं।' उनकी समझदारी की प्रौढ़ता का सबूत ही मानता हूं।

लोकतंत्र के वर्तमान रूप के प्रति उनके अविश्वास को, 'लोकतन्त्र सिर्फ़ एक नाम है। अँधेरे से अंधेरा काटने का संसदीय आयाम है!' क्रान्ति के नाम पर भी उसे कम प्रवंचना यहाँ नहीं दिखी। उसकी स्वीकृति है, 'मुट्ठियों में क्रांति / दिमाग़ों में अजीब क़िस्म की भ्रान्ति उगाते हुए / लोगों से बहुत बार टकरा गया हूं /' उनका विवेक 'मुहावरों में समय को जीना / क़तई पसन्द नहीं करता' अतः वे किसी की सिखायी बोली को नहीं दुहराना चाहते। अपने इन विषम अनुभवों के बावजूद वे भूलते नहीं, 'वादा किया था बहुत पहले मैंने / अपनी कविता को अंधेरे की पीठ में चुभाकर / रोशनी की बाँहों में समय को आँटने का / और कविता में ही रोशनी की तलाश के लिए थोड़ा-थोड़ा सन्नाटा बाँटने का। स्पष्ट है कि महानगरीय बोध की तमाम विसंगतियों, प्रतिकूलताओं, यन्त्रणाओं के बावजूद कवि निष्ठापूर्वक अपनी ज्योति-यात्रा को अक्षुण्ण रख पाया है।

गाँव में उन्हें लगता था कि 'अँजुरी भर आकाश' में भी सब का साँझा है किन्तु महानगर ने सिखाया कि 'टुकड़ों में बँटा आकाश' सब का हो सके यह सहज सम्भव नहीं समय के चिटखने का भी उन्हें संशय होता है क्योंकि उनकी धारणा है एक संकट से उबर कर एक संकट से घिरा सा / बॉंग्लादेश, वियतनाम आदि पर लिखते समय कवि को प्रतीत होता है कि उसी का एक अंश है वह सब जो अत्याचारित होकर भी अन्याय के विरुद्ध संघर्षरत है। चीखता सिवान पार का पलाशवन / फूलों को भून रहे हैं मशीनगन' रोशनी विरासत में मिली सिर्फ़ अन्धों को' जैसी तीखी पंक्तियाँ कवि की सहानुभूति किस के साथ है इसे स्पष्ट कर देती है। सामाजिक कर्त्तव्य के प्रति सजग कवि का व्यक्ति मन अब भी लोक गीतों के स्वरों में थरथराती हुई यादों से व्यथित हो उठता है पर यथार्थ के दबाव में वह स्वीकार करता है, 'किन्तु सब लगते पराये गाँव घर, सीवान जंगल और रक्तपलाश।' जो बात व्यक्तिगत धरातल पर सम्भव नहीं हैं उसे वे सामूहिक प्रयास से सबके लिए सम्भव बनाने का संकल्प करते हैं। उनका

आह्वान है, 'आओ, हम खुलकर कुछ अपने सम्बन्ध लिखें / धरती से नाता है माटी, की गन्ध लिखें।' रोशनी उगाने की भाषा वे उससे सीखना चाहते हैं 'जिसने जल जल कर जीवन भर उजला उजला दर्द जिया है।' माटी के लोंदे से लौ उठाने तक की माटी के दिये की अलख छन्द लय की दूरी तय करने वाली पूरी 'ज्योति यात्रा' कवि को अपने आदर्श सरीखी लगती है।

इसी मन:स्थिति में उन्हें प्रखर चिन्तक श्रीयुत अनिर्वाण को वेद मीमांसा का अवलम्बन प्राप्त होता है और उनकी चेतना इतिहास की अनगढ़ता को तराश कर अतीत को भविष्य से जोड़ देना चाहती है। उन्हें लगता है जड़वाद की धुन्ध के गहरे अन्धेरे में ज्ञान, प्रेम और करुणा की ज्योति खो सी गई है। इसीलिये संत्रास और संकट ने जगत को ग्रस लिया है। वैदिक ऋचाओं में निहित 'ऋत-सत्' के ताप प्रकाश को आज की काव्य भाषा में व्यक्त करने के उनके व्रत ने 'ऋचा-गीत' रचकर 'कविता में जीने का सुख' प्राप्त करने की अनुभूति उनमें जगायी। वैदिक ऋचाओं के उनके गीतिभाष्य इतने जीवन्त और कलात्मक हैं कि बिलकुल मौलिक जैसे लगते हैं। 'हम सब का जीवन मधुमय हो' 'सारी नदियाँ मधु बिखराएँ', 'हवा चले मधुवन्ती।' अथवा श्रद्धा से ही अग्नि प्रज्ज्वलित', 'श्रद्धा सब का मूल है। श्रद्धा ऊषा के माथे का एक भागवत फूल है' जैसे गीत मूल के प्रति निष्ठावान होते हुए भी उनके सुशोभन पल्लवित रूप हैं। इन गीतों में छविनाथजी ने उस ऊँचाई को छुआ है जो किसी भी कवि को कृतकृत्यता प्रदान करने में समर्थ है।

केवल गीतिभाष्यों में नहीं उनकी इधर की मौलिक कविताओं में भी आत्म-संस्कृति की यह चेतना झिलमिला उठी है। उनके अनुसार वस्तुस्थिति यदि एक तरफ यह है कि तमाम बेपनाह, बेगुनाह लोगों की गर्दन पर किसी हत्यारे की कटार जैसा आकाश झुक गया है' तो दूसरी तरफ यह भी है कि दुश्मन केवल बाहर ही नहीं, अपने भीतर भी है और इसलिए बहुत जरूरी है कि हम 'अपने अपने दिमागों में छिपे असली दुश्मन की तलाश करें, भूखा प्यासा केवल मानव का शरीर ही नहीं, उसकी अन्तरात्मा भी है क्योंकि पराये पन के अँधेरे में''आदमी की शिनाख्त मुश्किल है।' 'वह रोशनी के अभाव में बेबस है, बुजदिल है, / दरअसल रोशनी भूख है, प्यास है। रोशनी अपनेपन का एहसास है। छविनाथजी के अनुसार उसी 'चिन्मय प्रत्यक्ष' को मानुषीवाक् के माध्यम से जीवन में जानना और फिर उदात्त चेतना भूमि पर उतार कर अंधेरा तोड़ने और रोशनी में जीने का नाम वेदकविता है।' इसी ज्योतिर्मयी कविता तक पहुंचने की छविनाथजी की काव्य साधना वस्तुतः ज्योति यात्रा है। हमारी मंगल कामना है कि वे अपने लक्ष्य तक पहुंचें और सिद्ध करें—

'कविता जब किसी के पक्ष में/या किसी के ख़िलाफ़/अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है/तब वह ईश्वर से भी बड़ी होती हैं'। ●

डा. बदेव मिश्र पाषाण

दायरों में क़ैद
जीवन की मुक्ति-चिंता के कवि

कवि कहला लेना सदा ही आसान रहा है, कवि ठहर पाना सदा ही कठिन। फिलहाल कवि कहलाने वालों की जमात में बहुत कम ऐसे हैं, जो कवि ठहर पाएँ। कवि ठहर पाने वालों में भी बहुत कम ऐसे होते हैं, जो परम्परा और परिवेश, अंश और समग्र, समय और समाज, इकाई और भीड़ के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों और समकालीन सरोकारों के साथ संस्कारों की द्वन्द्वमूलक स्थितियों को समझते हुए एक दायित्व-शील नागरिक के बोध का निर्वाह एक प्रकृत कवि के रूप में कर पाएं। प्रकृत

कवियों की इस कोटि में गाँव को लाल - काली मिट्टी की उर्वरता की धार से महानगरीय जीवन की आपाधापी के प्रहारों को निरन्तर काटता-झेलता एक सर्जक व्यक्तित्व है छविनाथ मिश्र का। ह्रासशील स्थितियों के विरुद्ध निरन्तर विकासमानता के पक्षधर हैं छविनाथ मिश्र। वे विगत के नहीं आगत के विश्वासी हैं, स्वयं उनके ही शब्दों में—

"विगत का बूढ़ा विहंगम ले रहा अवकाश
और आगत नापने लो जा रहा आकाश
उड़े अन्तस् के तमस्वी नीड़ से कुछ नए क्षण
कट रहा मन का घुमहला घना नीला पाश।"

आज यंत्र और अर्थसत्ता और व्यवस्था की कविता के ख़िलाफ़ जलसों और जुलूसों की शक्ल में जो साज़िश बुन रहे हैं, अन्ततः वह आदमी के ख़िलाफ़ पड़ने वाली है। ऐसी स्थिति में अपने समानधर्माओं को सृजन के पक्ष में आस्था को कविता के पथ पर पुकारते हुए छविनाथ मिश्र कहते हैं—

"आओ हम खुल कर कुछ अपने सम्बन्ध लिखें
धरती से नाता है, माटी की गंध लिखें
क़लमों से तोड़ें हम अनलिखे अंधेरे को,
सुबह के सिवानों में धूप-धान रोप दें
रोशनी उगाने की भाषा छितरा दें हम

x x x

धुन्ध को खुरचने का
आंखों में मौत के ख़िलाफ़ नया छंद लिखें।"

इस आह्वान के लिए समकालीन जीवन स्थितियों की क्रूरता का यह बेधक एहसास कवि को विवश करता है—

"दायरों में क़ैद जीवन, मुट्ठियों में बंद है संवेदना
गढ़ न पाती है नया संकल्प कोई अधकटी संचेतना

आज बहुत कम कवि हैं, जिन्हें किन्हीं शिविरों से कविता पर लादी जा रही अधकटी संचेतना के ख़तरे का एहसास हो। यही कारण है कि सही कविता आज अधिक नहीं लिखी जा रही। अखण्ड धरती और अखण्ड आकाश का सकर्मक बोध कविता में तभी आ सकता है, जब कवि और उसकी चेतना अपने पांवों की ज़मीन से रस और ठीक अपने माथे पर पड़ते आकाश से ऊर्ध्वगमन की शक्ति प्राप्त करे, साथ ही बेहद जरूरी होता है औरों के पाँवों की ज़मीन और माथे के आकाश के साथ निजीपन के अहं का विस्तार कर पाना। यदि छविनाथ मिश्र अधकटी संचेतना के ख़तरे से गाफ़िल रहते तो कभी नहीं लिख पाते—

"मुझे भाती नहीं प्रतिमा पंगु कुंठित चेतना की
मुझे अब भाती नहीं है, मांग खण्डित वेदना की।"

स्पष्ट है कि छविनाथ मिश्र को न तो मंच प्रसिद्ध गले बाजों की होड़ में खपाया जा सकता है, न सतही चीजों से लोगों को दहलाने - बहलाने वालों की क़तार में सलटाया जा सकता है। छविनाथ मिश्र उड़ती निगाहों से पढ़कर या हलके कानों से सुन कर टाल दिये जाने वाले कवियों से अलग - समझे जाने की अनिवार्यता के कवि हैं। वे एक शक्तिवान रचनाकार इसलिए भी हैं कि कविता का वर्तमान और भविष्य अपने तक ख़त्म मानने वालों से अलग सृजन संदर्भों के विस्तार और समकालीनों के प्रति आश्वस्त भाव से अपने पहले कविता संग्रह 'अंगना फूले कचनार' में लिख पाए—

"नई पीढ़ी के गीतकारों, कवियों का दृष्टि बोध सहज और संवेदनीय अनुभूतियों के माध्यम से आत्मबोध और विश्वबोध के तमाम पक्षों को बड़ी सतर्कता के साथ एक नयी मानवतावादी पृष्ठभूमि पर उभार रहा है, इसमें संदेह नहीं, साथ ही साथ सांस्कृतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, ग्रामीण और प्राकृतिक चित्रों, बिम्बों और प्रतीकों में सार्वभौमत्व और साधारणीकरण की एक अर्थवती प्रवृत्ति को उकसाने तथा समग्र धरती की चेतना की ऊर्जा समेटने का आभास सचमुच एक युग-वेधी लक्ष्य और लक्षण है।"

अगर यह 'लक्ष्य' और 'लक्षण' छविनाथ मिश्र चेतना के स्तर पर आत्मगत नहीं कर पाते तो—

"दोपहर का यह नज़ारा
हम अकेले सर्वहारा
खोजते हैं वह सहारा
जो बने विस्तार न्यारा"

का स्वीकार सहज भाव से नहीं कर पाते।

सार्थक कविता न तो संस्काररूढ़ होती है, न संस्कारहीन। समकालीन हिन्दी कविता संस्काररूढ़ता के जंगल को तो बहुलांश में पारकर चुकी है लेकिन अभी भी एक बड़े अंश में संस्कारहीनता के खतरे से वह जूझ रही है। उत्तरप्रदेश के प्रयाग जिले में स्थित एक गांव 'ऊँचडीह' में १९२७ में जन्मलेने वाले छविनाथ मिश्र के पांवों को दैनन्दिन जीवन संघर्ष की चुनौतियों ने महानगर कलकत्ता की अंकवार तक पहुंचाया है। इस यात्रा की दूरी ने उनके मझोले क़द और सौष्ठवपूर्ण व्यक्तित्व के भीतर स्थित संस्कारपुष्ट कविमन को गहन अनुभूतियों की सहज ही ग्रहण करने की शक्ति दी है। कहीं से कहीं की दूरी तय करने में जो समय लगता है उससे बहुत अधिक समय लगता है—नितांत भिन्न स्थिति सन्दर्भों को झेलते समझते हुए अपनी जड़ों से लगाव बनाए रखकर नये परिवेश को सृजन शक्तियों व्यक्तित्वभंजक को स्थितियों से अलगाते हुए नये मूल्यों को आत्मगत कर पाने में। छविनाथ मिश्र अपनी कविता का सरोकार इस देश

के सम्पूर्ण लोक-जीवन की गहराइयों में ऊँचाइयों के साथ जोड़ पाये हैं। वे यह जानते हैं कि लोकजीवन की गहराइयों में पैठने वाली चेतना ही लोक-जीवन के आदर्शों की ऊँचाइयों को भी छू सकती है वरना कहीं आकाश-लता बन जाने का ख़तरा मौजूद रहता है—विशेष कर महानगरीय स्थितियों में। इसी ख़तरे के चलते बहुत सारे मंचजीवी गीतकार और प्रसिद्धि लोलुप कवि अपनी रचनाओं में ह्विस्की या भांग तो उड़ेल पाते हैं मगर न तो दूध के फेन का आकर्षण भर पाते हैं न जीवन की आग का राग अलाप पाते हैं। यह सच है कि कविता की नियति झाग या फेन बन जाने तक नहीं है क्योंकि इस तरह तो कविता अपनी उम्र खो बैठेगी। लेकिन किसी भी कवि के लिए केवल लम्बी उम्र की रचना लिख पाना सम्भव कहाँ होता है ? सवाल यह है कि रचनाओं में मौजूद फेन या झाग की किस्म कौन-सी है ? छविनाथ मिश्र की रचनाओं में विशेष कर रूहानी अंदाज़ के गीतों में मौजूद फेन दूध का है। एक उदाहरण देखें—

"पूनम की बांह पकड़ आश्विन झकझोरे
ढरक गए आंगन में दूध के कटोरे।"

जीवन की आग से उपजे विश्वास की एक सहज अभिव्यक्ति है—

"चाहे जितना भी कुहरा हो, सूरज है तो फट सकता है,
पीड़ा की पैनी छेनी हो तो पहाड़ भी कट सकता है।"

आगामी स्थितियों की गंध समय की नब्ज़ पर सही पकड़ रखने वाले कवियों के पास कुछ पहले ही पहुंच जाया करती है। आम आदमी के ख़िलाफ़ पड़ते वातावरण की पड़ताल करते हुए बेलौस अंदाज में छविनाथ मिश्र ने उस स्थिति का एक मार्मिक बिम्ब १९६६ में ही अंकित कर दिया था जिसका चरम विकास बहुतों को १९७५-७६ में दीख पड़ा। १९६६ में छविनाथ मिश्र ने लिखा था—

"अंधियारा टहल रहा है किसी सिपाही - सा
पूरा परिवेश तना है नौकरशाही -सा।".

जो सच है, वह किसके भय से न कहा जाय ? जो किसी के भय से सच को न कह सके, वह कवि कैसा ? सेंसर सत्ता का हो या संगठन का, कविता की मूल प्रकृति के विरुद्ध वह पड़ेगा ही। निर्देश हुकूमत का हो या नेता का, स्वतंत्रचेता कवि के माफ़िक़ शायद ही वह पड़े। छविनाथ मिश्र का कवि अपराजेय सिद्ध होता रहा है उन चुनौतियों के बीच जो कभी प्रलोभन का जाल बिछाती हैं, कभी आतंक की सृष्टि करती हैं। कवि शीतयुद्ध के दौर की काली ताक़तों के ख़िलाफ़ शांति की शक्तियों के पक्ष में खड़ा होकर १९५४ में ही कह सका था—

"मैं नहीं चाहता हूं अमन की कपोती कहीं नाश के जाल में जा फंसे
मैं नहीं चाहता हूं कबाबी हवस आग में भूनकर पंख उसके हँसे।"

यह १९५५ में अमन के गीत के चरित्र के उत्तर में युग के नये मसीहे का आह्वान करने वाले छविनाथ मिश्र ही थे, जो १९७६ में 'सन्जू की छड़ी' के ख़िलाफ़ देश को चिंता व्यक्त कर सके। जिन्होंने शमशेर बहादुर सिंह की सुप्रसिद्ध कविता 'अमन का राग' पढ़ी है, वे छविनाथ मिश्र की शांति विषयक कविताओं के साक्ष्य में आसानी से समझ सकते हैं कि अपने हाल के एक वक्तव्य में उन्होंने अपने प्रिय कवियों की कोटि में शमशेर को भी क्यों रखा है। बहुत अधिक तो नहीं लेकिन कुछ कविताओं में इन दोनों कवियों का प्रेरणापथ एक लगता है। शायद विचारधारात्मक अन्तर के बावजूद राष्ट्र और सम्पूर्ण मानवजाति की हितचिंता से युक्त रचनाकर कहीं न कहीं एक जैसे आह्वान अवश्य व्यक्त करते हैं। और फिर कविता की दुनिया में कविता से बाहर के अनावश्यक हस्तक्षेपों से तो शमशेर और छविनाथ जैसे तमाम कवि अवश्य बचना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में १९६५ में 'रूपलेखा' पत्रिका में अपने एक वक्तव्य में छविनाथ मिश्र ने कहा था—

मेल मिलाप, आलाप-प्रलाप (कविता के सन्दर्भ में) की दृष्टि से अपने समकालीनों के साथ कहीं भी खपने-खपाने का कौशल आयत्त नहीं कर सका।" जाहिर है कि इस कौशल से बचते रहने के कारण शमशेर को भी उनका दाम दे पाने में हिन्दो आलोचना की चुप्पी देर से टूटी और अभी तक छविनाथ मिश्र के मामले में वह प्रायः अन्धी-गूँगी सिद्ध हो रही है। शायद यह स्थिति जीवन पर्यन्त और जीवन के बाद भी कवि ठहर पाने वाले अधिकांश कवियों की नियति सी है। समय से पहले स्वीकृति पाने वाले आत्मतुष्ट कुछ नए कवियों का असमय ही चुक जाना देखकर समर्थ कवियों का उपेक्षित रहकर लिखते रहना कहीं अधिक आश्वस्त करता है। खुली आँखों और मुक्त मन से ज़िन्दगी के तमाम सिलसिलों को समझने वाले कवि छविनाथ मिश्र ने आगे चलकर यदि हिन्दी कविता में युयुत्सावादी काव्यान्दोलन की वैचारिक पीठिका तैयार की, तो यह न तो अकारण था न आकस्मिक। जीवन-युद्ध के प्रति एक अपराजेय दृष्टिकोण उनकी रचनाओं में आरम्भ से ही व्यक्त होता रहा। 'अंगना फूले कचनार' की एक रचना में उन्होंने कहा था—

'जिन्दगी मौत का खेल जारी रहा, हारता ही रहा आँचलों से कफ़न,
क़ब्र से वह चिता तक भटकता रहा, झूमती ही रही सांस की अंजुमन"

अतिरिक्त महत्वाकांक्षी कुछ अधकचरे हाथों में पड़कर युयुत्सावादी काव्यान्दोलन निश्चय ही उन सर्जनात्मक उपलब्धियों तक नहीं पहुंच सका, जिन तक वह छविनाथ मिश्र द्वारा परिकल्पित सांस्कृतिक ऊँचाइयों के पथ पर चलकर पहुंच सकता था, फिर भी मानना होगा कि दूसरे कई छिटपुट काव्यान्दोलनों की तुलना में वह काव्यान्दोलन अधिक सर्जनात्मक था और उसको इस स्थिति का अधिकांश श्रेय छविनाथ मिश्र को मिलना चाहिए।

छविनाथ मिश्र ने गीत रचे हैं, कविताएँ लिखी हैं। आचार्य रामविलास शर्मा ने एक जगह लिखा है—

"निराला गीत रचते हैं, कविता में भाषण भी करते हैं।" कम से कम शब्दों में निराला के गीतों और उनकी कविताओं का शिल्पगत अन्तर इतनी स्पष्टता के साथ रामविलासजी के अलावा और कौन व्यक्त कर पाता ? मानना होगा कि बड़े कवियों की परम्परा बाँझ नहीं होती। निराला की कविता के एक पक्ष पर आज यदि नागार्जुन खड़े हैं तो दूसरे पक्ष पर छविनाथ मिश्र। छविनाथ मिश्र के भी गीत रचे गए लगते हैं। जबकि उनकी कई कविताएँ भाषणों के नज़दीक पड़ती लगती है। "अँगना फूले कचनार" के पाठकों के हाथ में जब 'समय दंश" संग्रह पड़ता है तो विस्मय भी होता है, नए स्वाद का आनन्द भी। इन दोनों संग्रहों के बीच पाठकों के सामने पड़ रही होती हैं देश की बहुत सारी व्यावसायिक अव्यावसायिक पत्रिकाओं में छपी छविनाथ मिश्र की नवगीत रचनाएँ। नवगीत के इतिहास में छविनाथ मिश्र की रचना "मेघ-रंग" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १० अगस्त १९६९) एक महत्वपूर्ण योगदान के रूप में याद की जानी चाहिए। उस रचना का अन्तिम टुकड़ा देखें—

"वंशी की तानों में डूबा सीवान,
रचता हरियाली के देह का विधान,
गीताली बाँट गई पुरवा के छन्द
नांवों को स्वर देते गीतमुखी पाल
मछुवाहे फेंक रहे नदियों में जाल
मेघरंग रंगा - रंगा पूरा चौपाल"

ध्यातव्य है कि आगे चलकर कई मंच सिद्ध कलाबाजों ने "मछुवाहे के जाल" की व्यंजना को खूब गाया खूब बजाया और खूब भुनाया। छविनाथ मिश्र की खूबी यह है कि वे अपने गा सकने की ताक़त का इस्तेमाल कविता को भुना पाने के लिए कभी नहीं करते और न तो सस्ती मंचबाजी के लिए अपने गीतपाखी के पंख किसी को कतरने देते हैं। यह अवश्य है कि उनके भी अधिक गीत आत्मनिष्ठता की सीमा नहीं तोड़ पाते। यदि छविनाथ मिश्र ने नवगीत आन्दोलन को वस्तुनिष्ठ भंगिमा दी होती तो वे सहज ही आज की जनवादी गीत परम्परा से एक सही आधार पर जुड़ रहे होते। लेकिन फैक्टरियों और दूसरी महानगरीय विभीषिकाओं के भोक्ता-साक्षी रहने के बावजूद अगर छविनाथ मिश्र के नवगीतों का स्वर विक्षोभ और बदलाव का नहीं बन पाया तो इसीलिए कि उन्होंने जनवादी आन्दोलन की केन्द्रीय विचारधारा से एक निश्चित दूरी सदा बनाए रखी। इस दूरी के बावजूद यह सत्य है कि छविनाथ मिश्र ने अपनी तीक्ष्ण पर्यवेक्षण क्षमता और प्रातिभ सूक्ष्मदर्शिता के प्रमाण नवगीतों के भी पूरे प्रभाव के

साथ उकेरे हैं। कहीं-कहीं तो तथाकथित जनवादी गीतकारों को उनकी अभिव्यक्ति चुनौती ही नहीं, चेतावनी, भी देती है। देखिए एक उदाहरण—

"एक सर्वहारा सन्नाटा, टूट रहा है पात-पात पर
वासन्तिक बूर्जुवा हवा तो
तुनक रही है बात बात पर

x x x

दृष्टि-सृष्टि नव चिंतन सीझे आँच प्यार की ऐसी दहकी
तार-तार में, वृन्त-वृन्त में
छन्दमयी लय गमकी-महकी"

जो छविनाथ मिश्र को अन्तरंग स्तर पर जानते-समझते हैं, वे एक सहज मनस्वी कवि व्यक्तित्व की रचना-यात्रा के सही साक्षी हैं। विक्षिप्तता के कई झटकों और उपेक्षा के लगातार प्रहारों के बीच छविनाथ मिश्र की जिन्दगी को यदि कहीं सुकून के क्षण नसीब हुए तो वे उनके जीवन में अपेक्षाकृत देर से आयी हिन्दी की सशक्त गीत-सम्भावना 'आशा-अंशु' के संग आये। एक प्रतिभा का दूसरी प्रतिभा के साथ परिणय-सूत्र में बँध जाना छविनाथ मिश्र की बिखरी जिन्दगी में एक सलीक़े का प्रवेश सिद्ध हुआ और इस सलीक़े का रचनात्मक प्रतिफलन हुआ जीवन के नए हास-हुलास को अभिव्यक्ति में—

"खत्म हुई सूरज की दिनभर की ड्यूटी
किरणवती शिरा - शिरा, शिथिल हुई टूटी
चारे की आशा में चिंगनों के टोंट खुले
श्रमजीवी चिड़ियों के गमक उठे घोंसले"

और अब शुरू हुई छविनाथ मिश्र की मानसिकता में यथार्थ के तीखेबोध और नए भविष्य को क्रान्तिकारी गति देती समकालीन जीवन-दृष्टि के बीच एक नई कशमकश। "समयदंश" संग्रह में इस कशमकश का एक उदाहरण देखें—

"काश !
समय मेरे लिए और मेरी कविताओं के लिए
नज़दीक से गुज़रा होता ?
शायद वह मुझे
रोशनी का ग़लत प्रतीक समझ कर
अपनी थरथराती हुई संवेदनाओं में जीने के लिए
आदिवासियों की बस्ती के पीछे

कच्चे गोश्त के टुकड़े की तरह
खून से लथपथ उगते हुए सूर्य की प्रतीक्षा में
किसी पत्रहीन पेड़ के सहारे टिका हुआ
मर गया होगा
विश्वास नहीं होता न जाने क्यों ?

इस संशय की स्थिति के बावजूद पूरे देश को नए सिरे से उद्वेलित करती १९६७-६८ की क्रांतिकारी चेष्टाओं ने छविनाथ मिश्र को भी झकझोरा और लिखी गई उनके द्वारा "बोध" पत्रिका के प्रवेशांक में छपी कविता "आग बाँटने का क़लमबन्द दस्तावेज़"। यह इसलिए सम्भव हुआ कि यह कवि जीवन की अटूट जिजीविषा का सदा विश्वासी रहा। प्रयाग के अक्षयवट के पड़ोस में जनमने वाले छविनाथ मिश्र की प्रतिश्रुति है—

"एक बार फिर तुम कोई नया संकेत दो,
मैं जीवन को नये सिरे से रोप रहा हूं"

गोया भयंकर जलप्लावन की भेंट चढ़ जाने वाली फ़सल के विनाश के बावजूद ज़मीन नई फ़सल के लिये हर बार तैयार मिले।

छविनाथ मिश्र आज न तो अप्रतिबद्धता का दावा कर सकते हैं न अकेलेपन का। वे स्वयं अपनी कविता में निहित आह्वान को किस दुराग्रह के चलते झुठला सकते हैं ? उनकी पंक्तियां हैं—

"उग रहा है एक ख़तरा
जहाँ कोई सही चिंतन बुन रहा सपना सुनहरा
मुक्तिमूल्यों के लिए जो स्वयं को ही तोड़ते हों
चलो शामिल हों लड़ाई में उन्हीं की
टूटकर जो टूटते हर सिलसिले को जोड़ते हों"

परस्पर विरोधी पक्षों के अस्तित्व-संघर्ष के कारणों का पता छविनाथ मिश्र को है। वह कहते हैं—

"वे जीना चाहते हैं
उन्हें ख़ून और हथियार की ज़रूरत है
मुझे जीना है
रोटी और कविता के बीच दबोची हुई
अपनी रचना के एकलौते आकाश की सुरक्षा के लिए"

कवि अगर जीवन के तमाम उपादानों और कविता के सही सरोकार के प्रति निरासक्त है, लापरवाह है तो अधिक दिनों तक कविता उसका साथ नहीं दे सकती।

जो प्रकृत कवि होते हैं, कविता के प्रति उनका समर्पण अधूरा नहीं होता। कविता के साथ कवि के तादात्म्य की साक्षी हैं छविनाथ मिश्र की ये पंक्तियां—

"शब्दों ने मुझे बूढ़े बाप की तरह कांपते हाथों से सहलाया है,
भाषा ने ममतामयी मां की तरह मुझे प्यार की दूधिया रोशनी में
नहलाया है
और कविता की संस्कृति में जीने का सबक़ पढ़ाया है

x x x

बार - बार इतिहास के पन्ने आवाज़ देते हैं
कविता जब नशे की तरह उभरती है
तब शराबख़ानों के तमाम आबगीने टूट जाते हैं"

क्योंकि—

"कविता जब किसी के पक्ष में या किसी के ख़िलाफ़ अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है तब वह ईश्वर से भी बड़ी होती है।"

एक ऐसी भी स्थिति है, जब वैष्णव - संस्कारों में पले - बढ़े छविनाथ मिश्र भी कविता को ईश्वर से बड़ा दर्जा देते हैं। कविता को ईश्वर से बड़ा मानना मनुष्यत्व के बड़प्पन की चरम-स्वीकृति है क्योंकि कविता आदमी ही कर सकता है, ईश्वर नहीं। क्या कोई फिर भी कहेगा कि छविनाथ मिश्र केवल इसलिए आधुनिक नहीं हैं कि उन्होंने अकवितावादियों और श्मशानवादियों की तरह कविता को घृणा के उगालदान में नहीं बदल दिया ? यह राष्ट्र की सांस्कृतिक जड़ों से लगातार रस-ग्रहण और समकालीन व्यवस्था के द्वारा मनुष्य को यंत्रमानव के रूप में बदल दिये जाने के विरुद्ध गहरी प्रतिश्रुति के ही चलते संभव हुआ कि छविनाथ मिश्र न तो निषेध की खोह में खो गये और न व्यक्तिवादियों की आत्मलीनता के शिकार हो कर उपभोक्ता संस्कृति के पक्षधर बन गए। दरअसल एक संस्कारशील कवि उस क्रान्तिकारी के स्तर का होता है, जो जय या पराजय के, जीवन या मृत्यु के किसी भी क्षण में अमानवीय नहीं होता।

जिनकी कारयित्री प्रतिभा कमज़ोर होती है, अधिक जानकारी उनकी रचनात्मकता के विरुद्ध सोख्ता बन जाया करती है। हिन्दी के कई महारथी, जो शुरू में अच्छे-ख़ासे कवि बनते नज़र आए थे, आगे चलकर कविता-रचना से अगर विमुख नहीं तो पृथक ज़रूर हो गए। गद्य उनका एक मात्र क्षेत्र बन गया। छविनाथ मिश्र ठीक नागार्जुन की तरह संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, उर्दू, उड़िया और हिन्दी की गहरी जानकारी के बावजूद आज भी कविता की दुनिया में निरन्तर सक्रिय हैं। यह उनकी सामर्थ्य का ताजा प्रमाण है कि एक ओर तो वे अपने जारी समय की तल्ख़ हक़ीक़तों को आज की कविता

के शिल्प में व्यक्त कर रहे हैं, तो दूसरी ओर वैदिक ऋचाओं का हिन्दी में सफल गीतान्तर भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

अन्तर्विरोधमुक्त कोई नहीं होता। छविनाथ मिश्र में भी अन्तर्विरोध है। एकगीत में वे कहते हैं—

"भीड़ पर रहम करो/भाषण कुछ कम करो"

लेकिन वे स्वयं लिखने लगते है "नुस्ख़ानवीस" और "मसीहानुमा लोगों का जुलूस" जैसी भाषण-नुमा कविताएँ। वे गीतों में जितने सहज, सौम्य और कई बार तो नाज़ुक मिजाज भी दिखते हैं, कई कविताओं में इसके विपरीत कला-सौष्ठव के खण्डित हो जाने का खतरा उठाकर भी गुस्सा उड़ेलते मिलते हैं। तो क्या छविनाथ मिश्र शिथिल संकल्पों वाले एक कमज़ोर कवि हैं? जो नहीं, अनेक स्तरों पर अपने और अपने समय को कई-कई लहजों में व्यक्त कर पाना उनके बहुआयामी रचनाकार व्यक्तित्व की सामर्थ्य का प्रमाण है।

छविनाथ मिश्र मार्क्सवादी नहीं है लेकिन मार्क्स को समझ उनमें है। रचनाकार से असहमत होने का अधिकार छीना नहीं जा सकता। छविनाथ मिश्र मार्क्स से असहमत हैं लेकिन नत तो वे गांधी के सामने भी नहीं हैं। मनुष्य के भविष्य के प्रति उनकी चिंता उन्हें मुनाफ़े की संस्कृति के ख़िलाफ़ खड़ा करती है। उनकी कविता संवेदना की जिन अंगुलियों से अनुभूतियों के तारों को छेड़ती है, वे आवश्यकता पड़ने पर एक नए आकाश की तलाश में ज़हर और आग बरसाते आज के आकाश के ख़िलाफ बँधती-उठती मुट्ठियों का अनुशासन भी स्वीकार कर सकती हैं। आज के मनुष्यता विरोधी दायरों की क़ैद से जीवन को मुक्त कर पाने की चिंता के कवि छविनाथ मिश्र ही अमार्क्सवादी हो कर भी जनवादी हरापन लाने का आह्वान कर सकते हैं—

"हम हवा की तरह गमकें,
रोशनी की धार बन कर
विजलियों की तरह लरजें

x x x

नए सुख की व्यंजना में
नयी फ़सलें बुनें,
रोपें एक बुनियादी बड़ापन
एक जनवादी हरापन"। ●

श्रीनिवास शर्मा

आस्था और सौन्दर्य के कवि

कला और कलाकार पर लिखना एक जटिल व्यापार है। क्योंकि दोनों का संबंध मनोविज्ञान से है। कला के माध्यम से जीवन के अंतर्बाह्य को समझना सामाजिक यथार्थ और मनोविज्ञान की अतल गहराइयों में पैठना है। रचना और रचनाकार को समझना इसीलिए कठिन है। क्योंकि उसको प्रेरित-प्रभावित करने वाले तत्व एक नहीं; अनेक होते हैं।

रचना प्रथमतः और अन्ततः एक वैयक्तिक प्रयास है। कहा जा सकता है कि वह एक आत्मपरक प्रयास है। रचना स्वतंत्र होती है। स्वतंत्र होते हुए भी वह

सापेक्ष होती है। सापेक्ष हो कर ही रचना स्वतंत्र होती है। रचनाकार निरपेक्ष नहीं होता। उसकी रचना या कला भी निरपेक्ष नहीं होती। साहित्य और कला में निरपेक्ष स्वतंत्रता तथा स्वतंत्रता की मांग ग़लत है। स्वतंत्रता और सापेक्षता में फ़र्क़ होता है। कला पर विचार करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है—"वह व्यक्ति-सापेक्ष है, जीवन सापेक्ष है, वर्ग सापेक्ष है, युग सापेक्ष है। वह स्वतंत्र भी है। वह स्वतंत्र इस अर्थ में है कि जो भाव-बीज कलाकार के अंतःकरण में उदित हो कर उसके सारे संवेदनों और अनुभवों द्वारा परिपोषित होकर विस्तार ग्रहण कर के उसके अन्तर्मन को आच्छादित करते हुए अपनी अभिव्यक्ति, लक्ष्य की ओर विकास-यात्रा करता है, तो उस भाव-बीज की विकास-यात्रा और उसकी अभिव्यक्ति अपने-आप में विभिन्न और अनुकूल विपरीत तत्वों का एक गतिशील किन्तु संगतिबद्ध और सामंजस्यबद्ध रूप बन जाती है।" यहां "अनुकूल-विपरीत तत्वों का एक गतिशील किन्तु संगतिबद्ध और सामंजस्य रूप"—विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

गजानन माधव मुक्तिबोध के उपर्युक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में कवि छविनाथ मिश्र की कविताओं के बारे में कहा जा सकता है कि उसमें जीवन और समाज के अनुकूल-प्रतिकूल तत्वों का एक गतिशील तथा संगति और सामंजस्यबद्ध सिलसिला सर्वत्र देखने को मिलता है। यह संगतिबद्धता और सामंजस्यबद्धता उनके कवि और काव्य की विशेषता है। कहा गया है कि 'रचनाकार अपने मानसिक और सांस्कृतिक रचाव से आत्म-संघर्ष के द्वारा मुक्ति पाता है।" छविनाथ मिश्र की कविताओं में आत्म-संघर्ष के माध्यम से समाज-संघर्ष तथा समाज-संघर्ष के माध्यम से आत्म-संघर्ष का भाव है। 'अंगना फूले कचनार' से लेकर "ऋचा-गीत" की काव्य-यात्रा उनकी सृजनशक्ति का कलात्मक प्रतिफलन है। इस काव्य यात्रा में वे बहिर्जगत और अन्तर्जगत के अन्तर्विरोधों के मध्य संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इसका कारण उनका सम्बध सामाजिक-सांस्कृतिक बोध है।

कल्पना और भावावेश में यदि वे कहीं उखड़ते नहीं हैं तो इसलिए कि उनकी जड़ें परम्परा से गहरे रूप में संयुक्त हैं। अपने चिन्तन में वे उस मोड़ पर खड़े हैं जो परम्परा और आधुनिकता का मिलन-बिन्दु है तथा जहां से दोनों के रास्ते अलग हो जाते हैं। उनमें जीवन के प्रति अटूट आस्था और गहरी प्रतिबद्धता है। कविताओं में इनका बखूबी निर्वाह उन्होंने किया है। आस्था और प्रतिबद्धता उनकी कविताओं का विधायक पक्ष है। जीवन और जगत् के प्रति आस्थावान कवि ही तो समाज को कुछ दे सकता है। उनका गहरा सांस्कृतिक बोध उन्हें जगत् के प्रति स्वीकारात्मक और वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य करता रहा है। मिश्रजी कविता को जीवन से अभिन्न मानते हैं। यही वजह है कि वे जीवन के गरल को पीकर भी पुनः-पुनः

कविता की दुनिया में लौट आते रहे हैं। कविता उनके लिए मात्र अभिव्यक्ति का माध्यम न हो कर जीवन का पर्याय है—

"आदमी की मुक्ति-यात्रा
कविता में जीने की यात्रा है।"

कविता की यात्रा मानव-मुक्ति की यात्रा है। दूसरे शब्दों में, कविता मुक्ति कामिनी है—

"कविता जब किसी के पक्ष में
या किसी के ख़िलाफ़
अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है
तब वह
ईश्वर से भी बड़ी होती है।"

कविता कवि के लिए 'सच' की रक्षा और समाज का सुरक्षा-कवच है—

"कविता मेरे लिए कवच है
मेरे होने जैसा ही सच है
वह केन्द्र से परिधि तक तैरता हुआ
एक शब्ददेही कम्पन है।"

(कविता में जीने का सुख:)
'कविता ईश्वर से भी बड़ी'

मिश्रजी ने जहां आधुनिक हिन्दी कविता को गति और विस्तार प्रदान किया है वहीं 'नवगीत' को भी अपनी काव्य-प्रतिभा से सजाया-सँवारा है। 'नवगीत' को जीवन के नए सन्दर्भों से जोड़ने वाले नए गीतकारों में मिश्रजी का योगदान कम मूल्यवान नहीं। 'अंगना फूले कचनार' उनके नवगीतों का संग्रह है। इसमें प्रेम, सौन्दर्य, आस्था संघर्ष को रेखांकित करने वाले तरह तरह के नवगीत हैं। अपने नए गीतों में उन्होंने समकालीन सामाजिक जीवन, समाज के पीड़ित -शोषित वर्ग को स्वर दिया है—

"क्षण-क्षण आत्मसात् करले जो कालजयी अस्तित्व वही है,
युग मेधा को वरण करे जो मृत्युंजयी कृतित्व वही है,
कर दे अग्निसात् जो मन की गांठ-गांठ वह अन्तर्ज्वाला,
विषकुम्भों को जो पी जाए, गीतों का व्यक्तित्व वही है
बीज-मंत्र यह साध रहा हूं
तुमको स्वर में बांध रहा हूं'।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने कविता और नए गीत को एक प्रकार से परिभाषित कर दिया है। साथ ही, रचनाकार के सामाजिक-सांस्कृतिक बोध और दायित्व की ओर भी संकेत है। यही तो कविता का बीज-भाव है जिसका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

ने 'लोक मंगल की साधनावस्था' शीर्षक लेख में भी उल्लेख किया है। उन्हीं के शब्दों में—"यदि बीजभाव की प्रकृति मंगल विधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं। (चिन्तामणि) आचार्य शुक्ल का यह बीजभाव प्रतिबद्धता के काफी अनुकूल पड़ता है। प्रतिबद्धता मानवीय जागरूकता की सबसे सुन्दर भूमिका है। मानव के भविष्य के प्रति समर्पित होने के कारण वह 'लोक मंगल की साधनावस्था' की भूमिका के काफी निकट है।

बीज-मंत्र' की साधना ही कवि छविनाथ मिश्र की कविताओं और नए गीतों का 'बीजभाव' है। कवि गीतों को जीवन के स्वर से साधना चाहता है। आखिर, कविता का स्वर क्या है ? जीवन-विमुख, समाज-विमुख कविता किस काम की ? नयी कविता और व्यक्तिपरक गीतों के विरुद्ध नए कवि-गीतकारों ने नवगीत को नयी जमीन, नई ऊर्जा और नई ऊँचाई प्रदान की। छविनाथजी उन नवगीतकारों में एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं। मिश्रजी किसी 'वाद' या 'दर्शन' विशेष से बँधना पसन्द नहीं करते। वे मानव-जीवन-दर्शन के कायल हैं। छविनाथजी बौद्धिक नहीं; विवेकी हैं। जीवन - यथार्थ को उसकी समग्रता में देखने के आग्रही हैं। इस आग्रह में विचार और विवेक का अभाव नहीं है। नए कवि -गीतकारों का जीवन-विवेक बड़ा प्रबल रहा है। नवगीत के बारे में किसी नए गीतकार का कहना है—"आज का गीत न तो लोक-जीवन से विमुख है और न नागरिक -जीवन से उपेक्षित, न तो राष्ट्र की भौगोलिक सीमा में वद्ध है और न अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों से तटस्थ। नया गीतकार अपने परिवेश के प्रति सजग तथा अपने अस्तित्व के प्रति व्यापक रूप से सतर्क है परिवेश और युग-जीवन के प्रति उसकी यही सजगता उसके स्वर की नवीनता के लिए उत्तरदायी है।' '(पांच जोड़ बांसुरी)।

समाज के व्याकरण के साथ यदि साहित्य का भी व्याकरण बिगड़ जाय तो जीवन में विपर्यय उपस्थित हो जाता है। तब ऐसे रचनाकारों की जरूरत पड़ती है जो साहित्य के व्याकरण को ठीक करें। और ऐसी समीक्षाओं की जरूरत पड़ती है जो समाज के व्याकरण को ठीक करे। 'युग के नए मसीहा' को सम्बन्धित नवगीत में छविनाथजी लिखते हैं—

"युग के नए मसीहा दौड़ो, चीख रहा है गीत अमन का।"

तथा

"जादू आज देखना है फिर तेरी नई मसीहाई का
दौड़ो ! जरा आँख तो खोलो !
मौत कर रही है मरघट के आँगन में अभिषेक कफ़न का।"

(अंगना फूले कचनार : 'युग के नए मसीहा')

जब साहित्य ज़ीवन, समाज और समाजार्थिक संरचना को प्रभावित करने वाले घटकों प्रभावों और उसके अन्तर्विरोधों को समझने में असफल हो जाता है या उसकी ओर से उदासीन या तटस्थ हो जाता है तब साहित्यिक और सौन्दर्य बोधात्मक रूपों और विषयों में नवीन शक्तियाँ उदित होती हैं। व्यक्तिवाद के पोषक रचनाकारों ने कविता और गीत के क्षेत्र में कुछ ऐसी ही स्थितियों-परिस्थितियों को जन्म दे रखा था। कला और साहित्य के स्तर पर ये साहित्यकार अपने समय के सामाजिक राजनीतिक संघर्षों को आगे बढ़ाने के बजाय एक नए ढंग का इतिहास और अर्थशास्त्र रच रहे थे कहना न होगा कि नयी कविता और व्यक्तिवादी गीतों के भ्रमजाल और उनके मिथकीय भ्रम से मुक्त करने में कवियों और नए गीतकारों की ऐतिहासिक भूमिका थी। 'नवगीत' की सामाजिक भूमिका को परिभाषित करते हुए बालस्वरूप राही ने लिखा था —

"गीत नया जन्मा
लय की मानवता से
मन को संवेदन से जोड़ेगा
लेकिन भावुकता की
रीत गए छन्दों की रूढ़ियाँ तोड़ेगा।"

(वही, जो नितान्त मेरी है, 'नया गीत'
धर्मयुग २० मार्च १९६६)

नवगीत को नया अन्दाज और नया स्वर प्रदान करने वालों में छविनाथ मिश्र की अग्रणी भूमिका रही है।

"ओ मेरे अपराधी सपनों ! मुक्ति मिलेगी मत घबड़ाओ
जग के मुँह में जीभ नहीं, है सारा गगन गवाही देगा।"

तथा

"तट की छाँह न जिसे लुभाए, ऐसी कोई लहर नहीं है,
पल का पंख न जिसे उड़ाए, ऐसा कोई पहर नहीं है,
चाहे जितना भी खलता हो सुधि का हर क्षण संगी तो है
पता न मंजिल का बतलाए, ऐसी कोई डगर नहीं है
धीरज धरो, स्वरों को साधो, साँसों को मुट्ठी में बाँधो,
चाहे मरघट या मज़ार हो, अपना हाथ न तुम फैलाओ
जीवन कोई भीख नहीं है, ठहरो ! कफ़न गवाही देगा।"

मनुष्य की संघर्ष — चेतना को क्रियाशील बनाने, जीवन में नई आशाओं, नए विश्वासों को जन्म देने तथा मानवीय अस्मिता और बोध को गरिमामय बनाने में कवि की उपर्युक्त पंक्तियां अद्भुत ऊर्जा का संचार करती हैं। ऐसा ही रचना, रचना को

नियतिवादी और कलावादी होने से बचाती है। जीवन प्रकृति की नैसर्गिक देन है, भीख नहीं। जीवन है तो संघर्ष भी है। जीवन संघर्ष के साथ-साथ मनुष्य का वैचारिक संघर्ष भी चलता रहता है। यही युयुत्सा है। समाजवादी दर्शन के क़ायल कवि छविनाथ मिश्र ने समाजार्थिक संरचना के मूलाधारों में परिवर्तन के लिए 'युयुत्सावाद' को भी स्वीकारा था। उस समय युयुत्सा अर्थात् संघर्ष युयुत्सावादी कवियों का युग धर्म बन गया था। कवि शब्दों के माध्यम से 'क्रान्तिशंख' फूँक रहे थे।

"मैं काम-पुत्र हूं। क्रिया का प्रहरी प्रस्तुत हूं
यहां युद्ध के लिए"।

—शलभ श्रीराम सिंह

युद्ध, युद्ध के लिए नहीं, शोषण-आक्रान्त व्यवस्था में परिवर्तन के लिए, समाज की खुशहाली और बेहतरी के लिए। श्रमशील संस्कृति के प्रति आस्थावान कवि मिश्रजी ने गांव का, किसान का, वहां की हरीतिमा का बड़ा मनोहारी और आकर्षक चित्रण किया है।

"फसलों के स्वर गमके, तन मन मँजराये हैं,
गांव-गांव गीतों के मौसम सा लगता है
दिग्विजयी अर्थों सी श्यामलिमा छिटकी है।
खेत खेत प्राणों के संगम - सा लगता है
हलवाहा गाता है, गुन - गुन - गुन - गुन
शब्द जड़े, कड़े छड़े, छुन छुन छुन छुन"।

(अंगना फूले कचनार)

मिश्रजी के गीतों में सौंदर्य बोधी मानकों का अभाव नहीं है। प्रेम और सौंदर्य की उपासना से गीतकार जीवन-संघर्ष की नयी ऊर्जा प्राप्त करता है। "अंगना फूले कचनार" के गीत गीतों की लोकगन्धी चेतना से भरपूर हैं। व्यक्तिपरक, आत्मकेन्द्रित गीतों के रेगिस्तान में उनके गीत खजूर के पेड़ों की तरह हैं। यद्यपि इस संकलन में बहुलता प्रेमपरक और सौन्दर्य प्रधान गीतों की ही अधिकता है। फिर भी ये गीत कवि चिन्तन के भावी विकास और उसकी दिशा-दशा की ओर इंगित करते हैं। छविनाथजी जीवन-संघर्ष के साथ साथ वैचारिक संघर्ष भी करते रहे हैं। उनका मानसिक और वैचारिक विकास भौतिक जीवन के तनावपूर्ण और द्वन्द्वात्मक स्थितियों में हुआ है। रह रहकर उन्होंने अपने समय के प्रतिक्रियावादी चिन्तन और राजनीति की भी कड़ी आलोचना की है। संघर्षों की प्रक्रिया से गुजरते हुए कवि का काव्य विवेक भी उत्तरोत्तर उन्नत होता गया है।

छविनाथजी किसी 'वाद' को वाद के लिए नहीं स्वीकारते। उनका विवेकीमन बिचारधाराओं की छीछालेदर देखकर खिन्न हो उठता है। उनका मन राजनीति के व्यक्ति वितृष्णा से भर उठता है। परन्तु कवि 'स्व' की लक्ष्मण रेखा को 'पर' के लिए सदा से लांघता रहा है। यही तो है उनके भीतर का असली कवि जो सभी प्रकार के विचारों और विचारधाराओं को नकार कर 'मनुष्य' तथा मानव-हित को सर्वोपरि मानता आया है।

मिश्रजी विश्व को दार्शनिकों का भ्रम नहीं मानते और न ही उन्हें यह संसार रस्सी में सांप का भ्रम उत्पन्न करता है। वे चिन्तन और कर्म के एकदम विपरीत हो जाने की स्थितियों पर खिन्न हैं। कदाचित् इसीलिये वे अपने गीतों और कविताओं में व्यावहारिक ज्ञान पर बल देते हैं। हेराक्लिटस पहला दर्शनवेत्ता था जो काव्य में व्यावहारिक ज्ञान पर बल देता था। वह समझता था कि चिन्तक (सोफी) ही कर्म और चिन्तन के बीच व्याप्त विरोध को दूर करने वाले होते हैं। छविनाथजी कविताओं में प्रायः सोफी-(चिन्तक) अन्दाज में अपनी बात कहते हैं। वे अपनी रचनाओं में प्राय: प्राचीन भारतीय आदर्शवादियों की ओर लौट जाते हैं। उन्हें अक्सर प्रतीत होता रहता है कि विज्ञान, उद्योग और आधुनिकता की तीव्र धारा ने आज के मनुष्य को दिग्भ्रमित कर दिया है और वह दिशाहारा बन चुका है।

आधुनिकता की प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न विकृतियों से अधिक कवि की चिन्ता के केन्द्र में आज की राजनीति है। मनुष्य की दुरवस्था के लिए आज की राजनीति ही ज़िम्मेदार है। राजनीति ने मनुष्य को टुकड़ों में बांट दिया है। कवि को वह राजनीति और समाज व्यवस्था पसन्द नहीं जो मनुष्य को टुकड़ों में बांटती है, उसकी अस्मिता का अपहरण करती है। मनुष्य को बांटना आकाश को बांटने जैसा है क्या आकाश कभी बँट सकता है? क्या यह बँटवारा राजनीति के दोषपूर्ण आचरण का परिणाम नहीं है? आज़ादी के बाद की सबसे बड़ी घटना देश की राजनीति का निरन्तर भ्रष्ट, अवसरवादी, सिद्धान्तहीन और मूल्यहीन होते जाना है। राजनीति ने मनुष्य का विभाजन किया है। राजनीति के इस विभाजन और मूल्यहीनता पर छविनाथजी ने कविताओं में आक्रोश जताया है। वे मनुष्य का राजनीतिक विभाजन पसन्द नहीं करते। मनुष्य आखिर मनुष्य है। उसकी समस्याएँ मानवीय हैं। छविनाथजी मनुष्य की समस्याओं पर, उसके खंडित-विभाजित व्यक्तित्व पर दुःखी हैं। मनुष्य इस धरती का सबसे सुन्दर प्राणी है। सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है—

"सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर
मानव तू सबसे सुन्दरतम"।

आज जगत् का सबसे सुन्दर प्राणी ही सर्वाधिक संकटग्रस्त है। मनुष्य की सत्ता को विभाजित और खण्डित होते देख कवि का मन चीत्कार उठता है। कवि को

लगता है कि आज की सत्ता और व्यवस्था न केवल मनुष्य की अस्मिता बल्कि उसकी सृजनात्मक शक्ति के विकास की सम्भावनाओं के भी प्रतिकूल है। मिश्रजी की रचनाओं में जीवन की वास्तविक पीड़ाओं की अभिव्यक्ति और उस पीड़ा के विरुद्ध प्रतिरोध की भी अभिव्यक्ति हुई है। वे जीवन-सौन्दर्य के उपासक हैं। उनकी साधना 'सुन्दरतम्' की साधना है। जो कुछ भी असुन्दर और कुरूप है—मिश्रजी उसके विरुद्ध हैं। उन्हीं के शब्दों में—"पनघट से मरघट तक की दौड़धूप, अमन के फरिश्तों की उछल-कूद, सुधियों के स्नेह रंगे अन्तरालों से लेकर नक्षत्रों की ड्योढ़ी तक का संपाती-प्रयास, जटायु जैसे जीवन की आकुलता, आकुण्ठन, दिशाहारा युग की विवर्ती यात्राएं, गंध-भीने विकल और बिक्षुब्ध प्राणों की उड़ानें, मजबूरियाँ, विश्वासों के पारदर्शी अन्तस् की विवशताएं गंगाजली प्यार के धागे, व्यक्तित्व-अस्तित्व के पीछे-पीछे, सोने का मृग आगे-आगे और प्राणों के प्यासे आवेदन की लिपियों जैसी अनुभूतियां। यही हैं मेंरे उपादान, जाने-पहिचाने उपमान, आलम्बन।" अपनी कविताओं और गीतों में इन्हीं उपमानों को आलम्बन-स्वरूप अपनाया है कवि ने।

छविनाथजी मनुष्य की पूर्णता में विश्वास करने वाले कवि हैं। उनकी काव्य यात्रा मनुष्य और उसके व्यक्तित्व के विकास के साथ संपृक्त है। मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के लिए वे अध्यात्म को भी आवश्यक मानते हैं। उनकी कविता मनुष्य और ईश्वर के बीच तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करती है। उनके उदात्त मानवतावाद की किंचित् यह दार्शनिक आधारशिला है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी मानव की पूर्णता के लिए इसे आवश्यक मानते थे। एक जगह उन्होंने लिखा है—"मेरा धर्म मनुष्य का धर्म है, जिसमें परम अथवा अपरिमित की व्याख्या मानवता के अर्थों में की जाती है।" (रिलीजन ऑफ मैन)

'ऋचागीत' की भूमिका में कवि लिखता है—' मानव चेतना के विकास में कविता, दर्शन, धर्म विज्ञान और संस्कृति का समन्वय ही हमें हर प्रकार के संकट, तनाव और वैचारिक टकराव से छुटकारा दिलाने का एकमात्र विकल्प है।" परन्तु कवि भूल जाता है कि वैचारिक टकरावों का कारण समन्वय का अभाव नहीं बल्कि 'कुछ और' है। भौतिक क्षेत्र में पार्थक्यवादी प्रवृत्तियों के गहराने पर वर्ग सन्तुलन और समन्वय के प्रयास विफल हो जाते हैं। यही बात जीवन के सन्दर्भ में समन्वय को लेकर है।

समकालीन हिन्दी कविता में वैचारिक टकराव भारतीय समाज में विषमतावादी और पार्थक्यवादी प्रवृत्तियों का ही प्रतिफलन है। स्वयं मिश्रजी की कविताएं इसका साक्ष्य हैं। 'अंगना फूले कचनार' से लेकर 'क़लम का दर्द' तक की उनकी काव्य-यात्रा वैचारिक टकरावों से रहित नहीं है।

सन् '३६ के बाद छायावाद अपने उतार पर आने लगा था। डा० देवराज ने 'छायावाद का पतन' लिखकर उस पर अपनी अन्तिम मुहर सी लगा दी थी। फिर भी सन् '३६ का वर्ष छायावाद के लिए उत्कर्ष का वर्ष है। छायावादी काव्य की श्रेष्ठ कृतियों को हम इसी वर्ष प्रकाशित हुआ पाते हैं। सन् '३६ का वर्ष आधुनिक हिन्दी साहित्य (विशेषकर कविता में प्रगतिशील युग के आरम्भ का भी वर्ष है। इसी वर्ष लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन हुआ था जिसकी अध्यक्षता प्रेमचन्द ने की थी। अध्यक्षीय पद से बोलते हुए प्रेमचन्द ने जो कुछ भी कहा था वह आज हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रामाणिक दस्तावेज़ बन चुका है।

छायावाद के उतरते काव्य में वैयक्तिक गीत-काव्य की प्रवृत्ति पनपी थी। प्रतिनिधि कवि थे बच्चन, नीरज आदि। बच्चन और नीरज में वैयक्तिकता तथा रूमानियत के स्वर प्रबल थे। भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी में राष्ट्रीयता और सामाजिकता के स्वर थे। इन कवि-गीतकारों में वैचारिकता, सामाजिकता और इन्द्रियबोध के विभिन्न रूप दर्शनीय हैं। नवगीत और सातवें दशक की कविता इसके विरोध में उदित हुई थी। इसके पर्याप्त कारण देश की राजनीति और समाज में मौजूद थे। छविनाथजी लिखते हैं—"हिन्दी कविता में जहां तक आधुनिक कविता या नई कविता के शैल्पिक मूल्यों, लब्धियों, अभावों संभावनाओं और विकृतियों का प्रश्न है—काफी विवादास्पद रहा है। फिर भी, प्रयोगवाद और नयी कविता के सन्दर्भ में आधुनिक कवि या नया कवि जितना ही वीतश्रद्ध है—इसमें सन्देह नहीं कि वह उतना ही सामाजिक एवम् वैयक्तिक अन्तर्विरोधों तथा समष्टि चेतना को एक नए और विशाल धरातल पर नयी अभिव्यक्ति, नयी अर्थवत्ता के साथ उपस्थित करने की दिशा में सचेष्ट और प्रयत्नशील है।" तय है कि वैयक्तिक गीत-काव्य और नयी कविता की आंतरिकता, इन्द्रियपरकता, इकहरापन, क्षणवादी प्रवृत्ति तथा लोक-विमुखता ही नवगीत की पूर्व पीठिका थी। साहित्य में लोक-भावना के पक्षधर कवि गीतकारों ने कविता और नवगीत को जन-साधारण की भावनाओं से जोड़ा। उन्होंने नवगीत और कविता को जन-साधारण की मुक्ति का माध्यम माना और उसी को साहित्य के लोक-पथ के रूप में स्वीकारा। नयी कविता वैयक्तिकता की अंधी गली में औंधे मुंह जा गिरी थी। नयी कविता के यथास्थितिवाद और वैयक्तिक उठापटक पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए छविनाथ मिश्र ने लिखा—"एक ओर जहां नयी कविता में प्रयोग-वातिक ग्रस्त व्यक्तित्व के विकलांग एवं गद्यगंधी प्रस्तुतीकरण के आयोजन-प्रयोजन का महत्व आंका जा रहा है, वहीं दूसरी ओर नयी कविता के समानान्तर ही हिन्दी के नए गीतकारों एवं नए गीतों में युग और जीवन के तमाम अन्तर्द्वन्द्वों को सहेजने की सजगता भी कम मूल्य नहीं रखती और फिर यह तो सर्वमान्य धारणा है कि गीतों एवं प्रगीतों अथवा गेय कविताओं का अपना एक अलग अस्तित्व

और विशिष्ट सौन्दर्य है।" यहां 'अलग अस्तित्व' और विशिष्ट सौन्दर्य"— विशेष रूप से ध्यातव्य हैं। सातवें दशक की कविता और नवगीत को विशिष्टता प्रदान करने वाले कौन से तत्व थे ? इनका संक्षिप्त उल्लेख किया जा चुका है। सन् साठ के कवि-गीतकारों ने बूर्जुआ भद्रलोक की अभिजात रुचियों और सौन्दर्यबोध की स्थापना का जो अभियान चलाया था, उसमें प्रमुख पात्र समाज का व्यक्ति नदारद था। इस प्रवृत्ति को यदि विष्णु खरे के शब्दों में रखा जाय तो—"पूरी कविता सुपरिचित से रहस्यमय तक, चिन्तन से परिहास तक, दैनंदिन से लोकातीत तक, वास्तविकता से मिथक तक और सरल से जटिल तक आवाजाही करती रहती थी। इस आवाजाही में कविता अपने केन्द्रीय उद्देश्यों और जीवन के वास्तविक सरोकारों से अलग-थलग जा पड़ी थी। नवगीत के कवि-गीतकारों ने इस प्रवृत्ति को चुनौती देते हुए कविता का नया सौन्दर्य-शास्त्र रचा। यद्यपि यह कार्य मुक्तिबोध तथा उनसे भी पहले निराला कर चुके थे। साठोत्तर काल के कवियों ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया। छविनाथ मिश्र उस दौर के एक प्रमुख हस्ताक्षर रहे हैं जिन्होंने निस्तेज, निष्प्राण, शुष्क और इकहरी होती जा रही कविता को जन-जीवन की आशा-आकांक्षाओं से जोड़ते हुए उसे नया आयाम दिया।

मिश्रजी अपनी रचनाओं में एक ही साथ दो ध्रुवान्तों पर खड़े दिखते हैं—गाँव और शहर। दोनों ही उनकी कविता के केन्द्र में हैं। आजादी के बाद भारत के गाँवों विशेषकर निम्न मध्यम वर्ग का एक बहुत बड़ा वर्ग रोटी-रोज़ी की तलाश में नगरों में आ-बसा था। यहां उसने अपने को एक भिन्न परिवेश में पाया। वह न नगर को छोड़ सकता था, न गांवों में पुनः जा सकता था। मानसिक स्तर पर गांव उसकी चेतना पर छाया हुआ था। तत्कालीन साहित्य में गांव-शहर का यह अन्तर्द्वंद्व, प्रवृत्तियों और परिवेश का अन्तर्विरोध दर्शनीय है। 'अंगना फूले कचनार' 'टुकड़ों में बँटा आकाश' में ग्रामीण तथा प्राकृतिक चित्रों, बिम्बों, प्रतीकों की बहुलता है। कलात्मक सौन्दर्य का स्तरीय स्वरूप इनमें देखा जा सकता है। 'समय दंश', 'कलम का दर्द' में छविनाथजी अवसरवादी, मूल्यहीन भारतीय राजनीति और राजनेताओं के चरित्र-चारित्र्य पर कशाघात करते हैं। मिश्रजी की काव्ययात्रा का सकारात्मक और मूल्यवान पक्ष यह है कि वे अपनी रचना-प्रक्रिया में एक ही साथ परम्परा, संस्कृति, आधुनिकता, भौतिकता और इतिहास के प्रश्नों से जूझते हैं। उनके भीतर का 'जटायु' सामंतवादी दृष्टि, आधुनिकता, ऐन्द्रिकता और आधुनिकतावादी संस्कृति के घटाटोप के विरुद्ध सृजनात्मक स्तर पर सदैव संघर्ष के लिए प्रस्तुत रहता है। उत्तर आधुनिकतावाद, विचारधारा के पटाक्षेप, संचार-माध्यमों का हमला, इतिहास और दर्शन का संकट, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्विरोध, निरन्तर गहराती और व्यापक होती हमारी दृष्टिहीनता रचनाकार को अनुभव और सृजनशीलता के स्तर पर भीतर से मथती रहती है। फिर भी सामान्य व्यक्ति के जीवन का दर्द और विपरीत भौतिक

परिस्थितियों का दबाव कविता में एक वैचारिक ऊहापोह की स्थिति बनाए रखता है। मिश्रजी भले ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विरुद्ध हों, पर विचारधारात्मक द्वन्द्ववाद का भाव कविताओं में देखा जा सकता है। "पूंजीवादी समाजों में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को मानवीय मान लेने के कारण अपराध-बोध भी सांस्थानिक हो जाता है।" मिश्रजी ने अपराध के सांस्थानिककरण का सदा विरोध किया है। ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में मनुष्य की वैयक्तिकता का कोई महत्व नहीं होता। क्योंकि समाज में व्यक्ति की भूमिका सीमित होती है। मिश्रजी दोनों ही स्थितियों के अतिरेक का विरोध करते हैं। वे वैयक्तिक अस्तित्व और सामाजिक अस्तित्व के मध्य एक सन्तुलन के आग्रही हैं। उनकी कविताएँ व्यक्ति और समाज के बीच सेतु का काम करती हैं। जो लोग समाजार्थिक संरचना में सुधार की प्रक्रिया के लिए आतंक को ही इतिहास और मनुष्य की नियति मान लेते हैं—छविनाथजी उनका भी विरोध करते हैं। मिश्रजी अपनी रचना-प्रक्रिया में आधुनिक मानववाद और भारतीय "वसुधैव कुटुम्बकम्" की विश्व-दृष्टि में सामंजस्य और समन्वय के पक्षधर हैं। ऐसा लगता है—कि एक अनुशासित वैचारिक क्रम का मानवीय-संज्ञान कवि के काव्य - विवेक को अतिवादी, असन्तुलित होने से रोकता रहता है। मिश्रजी की कविता में प्रगतिशीलता के तत्व भरपूर हैं। प्रगतिशील जीवन-दृष्टि यांत्रिक नहीं होती बल्कि आवयविक चेतना सम्पन्न होती है। साहित्य और कला में यह दृष्टि विश्वदृष्टि के रचनात्मक आधेय के रूप में विद्यमान रहती है। इसीलिए कविता जीवित मनुष्य और उसकी समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं की सृजनशील दशाओं और संभावनाओं को व्यक्त करती है। प्रकृति मनुष्य, इतिहास के बीच एक आंतरिक संगति की तलाश छविनाथ मिश्र की काव्य-यात्रा का उद्देश्य है। जीवन के सत्य से रहित कल्पना के फेर में मिश्रजी नहीं पड़ते। वे जीवन को एक अनुशासन के रूप में देखना चाहते हैं। प्रकृति, व्यक्ति और समाज तथा उससे भी बढ़ कर यह चराचर दृष्टि एक अनुशासन के क्रम में चलती है। यदि जीवन एक अनुशासन है तो उसकी सौन्दर्य बोधात्मक कल्पना भी अराजक और अतिवादी नहीं हो सकती। अनुशासन के टूटने पर व्यक्ति और समाज के जीवन में गिरावट आ जाती है; समाज विशृंखल हो जाता है। आज के युग में सर्वत्र गिरावट और अराजकता का कारण अनुशासनहीनता और नैतिकता का अभाव है। उनका काव्य-विवेक आधुनिक और समकालीन जीवन की तार्किक समझ तथा द्वन्द्वात्मक बोध से विकसित है—

"गांवों से नगरों तक भूख से निढाल
उगती है भीड़ सिर्फ पेट का सवाल
मिट्टी का मंगल-स्वर
हल-हंसियों का ईश्वर
टके सेर बिकता है

मेहनत से जूझते किसानों का देश
धानों का देश''......
(टुकड़ों में बंटा आकाश)

''ऋचागीत'' कवि छविनाथ मिश्र का एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का गीतात्मक अनुवाद है। श्री गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय के अनुसार ''ऋग्वेद के विभिन्न मंडल से इतस्ततः अलग-अलग केवल पचपन प्रसिद्ध ऋक् का उन्होंने चयन किया है और पहले मूल का आक्षरिक भावानुवाद दे कर साथ ही दूसरे पृष्ठ पर उसी भाव का सम्प्रसारण करते हुए एक उज्जवल अनुपम हिन्दी काव्य रूप प्रदान किया है।'' इस प्रकार इस गीतात्मक अनुवाद के द्वारा छविनाथजी ने ''वैदिक साहित्य के सिंहद्वार को उन्मुक्त किया है। यह अनुवाद, अनुवाद के लिए नहीं है। इसके पीछे कवि का निश्चित अभिप्राय है। लिखा है—''अस्तित्व की रक्षा के लिए जिस प्रकार मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश की ज़रूरत है, उसी प्रकार व्यक्ति परिवार, समाज, देश, और सुसंस्कृत विचारों की सुरक्षा के लिए कविता, दर्शन, धर्म, विज्ञान और संस्कृति के इतिहास की भी ज़रूरत है।''

(पूर्वरंग—''ऋचागीत'')

ये 'सुसंस्कृत विचार' क्या हैं ? वेदों में इनका प्रतिफलन किस रूप में हुआ है ? क्या ये शुद्ध आध्यात्मिक हैं या भौतिकवादी ? तय है कि वेद प्राचीन संस्कृति और तत्कालीन लोकजीवन को समझने की आधारशिला हैं। वेदों में युग सापेक्ष ऐतिहासिक सामाजिक सम्बन्धों की झलक भी देखने को मिलती है। प्राचीन आर्य (वैदिक आर्य) भौतिकवादी थे। आदिम साम्यवाद वहां हमें देखने को मिलता है। वे प्रकृति के उपासक थे। तत्कालीम समाज की जो मीमांसा वेदों में हुई है वह जीवन की प्राकृतिक अवस्था को आदर्श मानकर ही हुई है। इसीलिए आर्य संस्कृति में प्राकृत्तिक अवस्थाओं में रहने वाले मनुष्य की (कबीलों) आदतें व्यवहार, इच्छायें और आकांक्षाओं के बिम्ब-प्रतिबिम्ब वैदिक साहित्य में देखने को मिलते हैं। प्राकृतिक अवस्था सुखद और लाभकर थी, आर्य इतिहास और संस्कृति में प्राकृतिक जीवन के प्रति गहरा रागात्मक लगाव था। इस अवस्था की उल्लासपूर्ण और भावमय अभिव्यक्ति वैदिक ऋचाओं में हुई है। वेद, प्रकृत जीवन की उल्लासमय गाथाओं और अभिव्यक्तियों से भरपूर हैं। जादू से लेकर मंत्र तक की अभिव्यंजना दृष्टि मिलती है। उसमें भौतिक समृद्धि की आकांक्षा का, विजय का, समूह में रहने, जीने तथा सबके कल्याण का आशावाद निहित है। वेदों में जो मंत्र पद्य-रूप में आए उन्हें ऋक,, गानरूप में पढ़े जाने वाले मन्त्रों को ''साम'' तथा गद्य रूप मन्त्रों को 'यजुः' कहा जाता था। ऋचाओं का सम्बन्ध 'ऋक' से है। अनुवादक के शब्दों में, 'ऋग्वेद' मानव-विज्ञान और मानवीय चेतना का प्रथम प्राचीनतम एक ऐसा उपलब्ध दस्तावेज है जो वैदिक साहित्य एवम् संस्कृति का बीजकोष है।''

छविनाथ मिश्र की कविताओं में 'सूर्य' का रूपक और बिम्ब बहुत बार तथा विविध रूपों में आया है। विभिन्न सन्दर्भों में कवि ने इसका प्रयोग किया है। तेज का, अग्नि का, ऊष्मा का, तथा सम्पूर्ण सृष्टि का भी आधार है। "यही वैदिक ऋषि-कवि का दृश्यमान परमात्मा है।"

सम्पूर्ण जगत का मूल कारण अखण्ड और एक बतलाया गया है। आज के वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि एलेक्ट्रॉन और प्रोट्रॉन दो ही मूल तत्व हैं पर, दोनों का भी मूल एक ही है। मूलतत्व की शक्ति प्रवाहरूपा है। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत उसी शक्ति का परिणाम या विकास है।

'ऋचा गीत' के अनुवाद में कवि का मुख्य उद्देश्य ऋषि कवि के भावोच्छ्वासों का परिचय कराना है—ऋषि कवियों के ये भावोच्छ्वास बड़े ही मनोरम, चित्ताकर्षक प्रेरणादायक व स्वतः स्फूर्त हैं।

भारतीय चिन्ताधारा में 'लोक-मंगल' और 'परोपकार' की भावना में अमूर्त मनोगत इच्छाओं को रूप देने वाली मिथकीय कल्पना का प्राचुर्य रहा है। मात्र 'लाभ-शुभ' की कामना से न जीवन चलता है, न समाज। हमारे यहां छन्दबद्ध सूत्रों और सूक्तियों का चलन रहा है। काव्य सौष्ठव तथा जीवन के उदात्त विचारों से युक्त रचनाओं का अभाव नहीं है। एक लम्बा इतिहास रहा है भारत में इस प्रकार के सोच-विचारों का। जहाँ तक आधुनिक युग का प्रश्न है—उसकी जटिलताओं का समाधान अमूर्त चिन्तन और लाभ-शुभ की कामना मात्र से सम्भव नहीं। सिद्धान्त और व्यवहार, वचन और कर्म के अन्तंद्वन्द्वों की ऐतिहासिक समझ के लिए समाज-शास्त्रीय दृष्टि और द्वन्द्वात्मक चिन्तन भी ज़रूरी है।

एक काव्य संकलन की भूमिका में छविनाथजी लिखते हैं—"कविता अपने सरोकारों की भूमिका में इतिहास की अनगढ़ता को तराशती चलती है।" साफ है कि वे अपने समय के इतिहास के प्रति तटस्थ या उदासीन नहीं हैं। कविता में जीने का सुख' और 'क़लम का दर्द' की कविताओं में कवि का इतिहास बोध स्पष्ट है। "मैं कहना चाहूंगा कि अपनी कवि चेतना और अपने आम आदमी के एहसास को मुक्त एवं सहज करने की दिशा में अपने लिये कविता को ही एक मात्र ऐसा सच मानता हूं जिसे अपने परिवेश एवं समय की तमाम विसंगतियों तथा जीवन की अर्थहीन स्थितियों के विरुद्ध खड़ा करके मुझे एक मामूली और माक़ूल आदमी होने की लड़ाई लड़ते रहना बेहद जरूरी लगता है"।

('भूमिका'—कविता में जीने का सुख)

कवि इस लड़ाई के लिए 'कविता से सीधे संवाद' की भूमिका में उतरता है। सामाजिक रूपान्तरण में साहित्य की भूमिका और उसके महत्व को वह भलीभांति समझता है। कवि के शब्दों में—

"बहरहाल...कविता की ग़ैर मौजूदगी में
ज़िन्दगी या क़ीमती चीज़ें
कौड़ी के मोल बिक सकती हैं"।

(कविता में सोचते हुए दफ्तर तक)

'कविता में जीने का सुख' संकलन की अन्य कविताओं में भी स्वीकारात्मक और वस्तुपरक दृष्टि देखने को मिलती है। समय सामान्य आदमी के लिए इतना विपरीत और भयावह है कि वह कवि को 'एक जंगली भैंसे जैसा' दीख पड़ता है। इस यथार्थवादी बिम्ब में समय अपनी पूरी विपरीतता और भयावहता के साथ उपस्थित है। अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे वियतनामी योद्धाओं को अपनी सहानुभूति कवि ने निम्न शब्दों में दी है—

उन्हें महसूस होता है
ने मर गए हैं, वे नहीं हैं
—वे युद्धशील हैं—
काले रीछ जैसा अँधेरा
उन्हें सूँघकर
रोशनी की तलाश में
कहीं और चला गया
उनकी चीख़—
ज़िन्दा रहने की एक प्यारी आवाज़
तमाम वनैले सुअरों के कानों से टकरा कर
वापस आ गई
अब वे सुअरों की क़ैद में हैं"।

('युद्धशील')

'क़लम का दर्द' संग्रह की कविताओं में छविनाथजी ने एक बार फिर—अपने वैचारिक धरातल को स्पष्ट किया है। अब तक प्रकाशित काव्य संकलनों में यह मिश्रजी का अन्तिम काव्य-संग्रह है। इसका प्रकाशन वर्ष १९८९ है। एक खण्ड कविताओं का है। दूसरा खण्ड ग़ज़लों का है। ये ग़ज़लें 'आपातकालीन प्रसंग' से जुड़ी हुई हैं। भूमिका में कवि ने लिखा है·· "मैंने अपने समय के मिज़ाज और तेवर की पहचान करते हुए अपनी कवि-चिन्ता को एक और यात्रा या आयाम के संकटबिंदु तक लाने की कोशिश की है।" इसी भूमिका के क्रम में छविनाथजी पुनः लिखते हैं··· "सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों-विसंगतियों तथा वास्तविकताओं की भूमिका में रचे गये ये गीत सम्भवतः हर संवेदनशील रचनाकार के क़लम के दर्द को सहला सकते हैं—तेज़ कर सकते हैं।" निष्कर्षतः 'क़लम का दर्द' के गीत सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में लिखे गये हैं। इन गीतों का तेवर आसानी से समझा जा सकता है। एक तेवर द्रष्टव्य है—

"मैंने हर मौसम को फूलों की भाषा दी
रास नहीं आया कुछ गीतों के हमदम को
फूल और गन्ध की मिताली-सा यह जीवन
जाने कब सौंप गया राज-पाट शबनम को
जोड़ नहीं पाती कुछ शब्दों की लक्षणा—
टूट रहा अर्थ-विद्ध एक आम आदमी
एक बोध शबनमी······

कवि की क़लम आम आदमी के जीवन-दर्दों को समर्पित है। संकलन का हर गीत आम आदमी के जीवन की व्यथा-कथा कहता है। कवि की सम्वेदना रह-रह कर उसे कचोटती है और वह जन-जन के दर्द को बांटने के लिए क़लम की लड़ाई लड़ता है।

समाजार्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्ष की ऐतिहासिक अनिवार्यता को कवि छविनाथ मिश्र स्वीकारते हैं। उनकी कविताओं में लफ्फ़ाजी और शाब्दिक रक्तपात को जगह नहीं मिली है। उनका काव्य-बोध इतिहास की उपज है। जनवादी प्रजातंत्र को आगे बढ़ाने के लिए छविनाथजी पूंजीवादी आधुनिकता बोध के प्रति लोगों को निम्न शब्दों में सतर्क कराते हैं—

"रचना के क्षण छू लें जनवादी दृष्टियां
ढह जाएं ग़लत लिखी इतिहासी सृष्टियां
पुरखों के चिन्तन को
एक नयी
भाषा दो
ओठों पर जीने के—
मंत्रों का चयन करो
जीवन के अनमांजे रूपों को रतन करो।"

(कलम का दर्द)

स्व० कवि सोमदत्त पुरखों के कोठार से बीज लेकर संघर्ष के पौधे को बढ़ाने की बात करते हैं। छविनाथजी संस्कृति और परम्परा के प्रगतिशील तत्वों को समाहित करते हुए संघर्ष और निर्माण की भावी दिशा निर्धारित करने की बात करते हैं। ज़रूरी है इसके लिए 'पुरखों के चिन्तन को नयी भाषा देना'।

मिश्रजी की कविता असहमति और अस्वीकार की कविता है। कविताओं और गीतों में मनुष्य और समाज के अस्तित्व की चिन्ता उन्हें निरन्तर सताती रहती है।

उनकी काव्य-यात्रा जीवन के रचनाशील तत्वों को संघटित कर मनुष्य की जय यात्रा में उन्हें उत्तरोत्तर विकासोन्मुख बनाने की संघर्षशील यात्रा है। ●

नीलम श्रीवास्तव

अपराजित आस्था के कवि

आज हमारे सामाजिक जीवन के तमाम महत्वपूर्ण क्षेत्रों की भाषा दोगली हो चुकी है। अपवाद तो हर जगह मिल सकते हैं। किन्तु देश की सारी ज़मीन पर पसर जाने को आतुर आस्था और व्यवस्था के ज़िम्मेदार जननायकों द्वारा दिये जाने वाले फ़तवे सद्यः जात शिशु को पंजों में दबोचे गिद्ध के उपदेश जैसे प्रतीत होते हैं। जीवन और अस्तित्व के अनिवार्य प्रश्नों के हल के लिये उनकी ओर देखते रहने के नतीजे में समय को अनास्था और असुरक्षा की टूटन ही झेलने को मिली है। ऐसी स्थिति में छविनाथ मिश्र का 'कविता' में अनाहत विश्वास एक बार आदमी की जिजीविषा को सगुण चिन्तन के लिए स्पंदित कर देता है।

'करोड़ों हताश और निराश लोगों को' कविता द्वारा 'नई ज़िन्दगी' देने की आश्वस्ति न तो छविनाथ जी की दर्पोक्ति है, न रोते बच्चों के हाथ में झुनझुना थमा कर उन्हें प्रसन्न करने जैसा प्रयास। वर्तमान समय में हर साइज की छोटी बड़ी मछलियों की खूँखार भूख के सन्दर्भ में कविता की शाश्वत मानवतावादी प्रवृत्ति

गलीचा-दरबारों की वाहवाही लूट सकती है, उसकी पारम्परिक शृंगारवृत्ति परम्परा-वादी कुलीन रसज्ञों की शायद प्रशंसा भी प्राप्त कर सकती है। किन्तु हताश और पराजय बोध से संत्रस्त लोगों में विश्वास का संचार करने वाली कविता का चरित्र अलग होता है। उस कविता का विवेक 'दूध और पानी' की अलग पहचान करा देने का होता है। उसका संदेश अपने भीतर छिपी आग को अनुभव करने का होता है। ऐसा विवेक और संदेश छविनाथ जी की कविता का चरित्र है। यही उनकी कविता की 'इन्द्रतमा' शक्ति है।

छविनाथ जी ने अपने युग की साँसों को छुआ है, उन्हें जिया है। अपने समय को सर्वांग देखते हुए उसके दिल और दिमाग की हलचलों-चीखों और यातनाओं, आशाओं और आकांक्षाओं को गहरी सम्वेदना के स्तर पर महसूस कर एक गुणात्मक भाषा में उतार सकने की उनकी क्षमता ने उनकी कविता को अग्निगर्भा संस्कार दिये, पुष्पधर्मा चरित्र दिया।

१९६२ में छपे प्रथम कविता संग्रह के पश्चात १९७१ में उनका दूसरा कविता संग्रह 'समय दंश' नाम से प्रकाशित हुआ था। इसमें चौंकने की बात नहीं है जब 'समय दंश' की एक कविता में उन्होंने लिखा—'व्यवस्था चाहे जो भी हो / नाम से कुछ भी नहीं होता / और लोकतंत्र सिर्फ़ एक नाम है / अंधेरे से अंधेरा काटने का एक संसदीय आयाम है।' सदियों की दासता भोगने के पश्चात प्राप्त हुई स्वतन्त्रता ने आम आदमी के मन में जो आशाएँ अपेक्षाएँ जगाई थीं, कुछ आत्मीय या अनात्मीय हाथों द्वारा वे तोड़ दी गईं। जिनके हाथों में सत्ता गई, जिनकी उँगलियों ने देश के आर्थिक अनुशासन की बागडोर सँभाली, जिन पर लोकतंत्र के व्यवहार और सोच को गतिशील करने की जिम्मेदारी थी, उन्होंने अपने दस्तावेज़ों से आम आदमी को काटकर अलग कर दिया। आम आदमी का 'वस्तुओं की फिहरिस्त में दर्ज हो जाने की नियति के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं रह गया।' 'समय (उसको) अपनी पसन्द के अनुकूल इस्तेमाल' करता है। उसके जिस्म के तमाम हिस्सों पर ज़रूरी वस्तुओं के नाम लिखकर (उसे) कांच के पारदर्शी ताबूत में बन्द कर दिया गया है।' लगभग ममी में परिवर्तित हो चुका आदमी आज की हकीकत है और इस हकीकत की तीखी अनुभूति ने छविनाथ मिश्र को एक जुझारू जिजीविषा की काव्यचेतना को युयुत्सा-वादी चिन्तन' के रूप में स्थापित करने के लिए बाध्य किया।

१९७१ में इलस्ट्रेटेड वीकली के किसी अंक में नीरद चौधरी ने लिखा था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से जो सपने देखे गए थे, वे भंग हो चुके हैं। अब वह उस व्यक्ति को बुद्धिजीवी मानते ही नहीं जो निराश न हो। हिन्दी कविता पढ़नेवाले जानते हैं कि सातवें दशक में संत्रासवादी कवियों की भीड़ जुट गई थी। वे मुख्यतया अकविता' के नाम से अपनी रचनाओं के द्वारा संत्रास, कुंठा, हताशा, समाजहीनता

क्षणजीवीपन आदि को आधुनिक भावबोध की संज्ञा देकर मूल्यों के रूप में उछाल रहे थे। नीरद चौधरी में उनकी ध्वनि की प्रतिगूंज बाद में उभरी। या शायद पहले ही उभरी तो, उन्होंने लिखा बाद में। मूलतः उस भावबोध में कोई बेईमानी नहीं थी। देश की स्थिति और अवस्था निराशाजनक ही थी। १९६२ में हुये सीमायुद्ध में पराजय, बढ़ती हुई मुद्रास्फीति, बेकारी-ग़रीबी आदि के प्रश्नों के सामने 'दूसरे आदमी' की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता और व्यवस्था को वर्गीय हितों के लिए इस्तेमाल करने में 'तीसरे आदमी' की सफलता आम आदमी से लेकर बुद्धिजीवियों तक को बेचैन कर रही थी। यह 'इतिहास की अनगढ़ता' थी। अकवितावादियों ने सिर झुकाकर इसे यथावत स्वीकार कर लिया था और अपने पौरुष को स्त्री-देह की नैतिक मर्यादा को तोड़ने में नियोजित कर दिया था। 'अस्वीकृत कवितावादियों' (विमल, शरद, शेषमणि पांडेय और श्रीराम शुक्ल) ने बाजार से संसद तक गढ़े जाने वाले लटकों-नुस्खों को तो रिजेक्ट किया ही, सब की सब काव्य परम्पराओं को भी नकारने का 'गुस्सा' अपनाया। कविता की उस ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति को चैलेन्ज दिया युयुत्सावाद ने जिसके छविनाथ मिश्र प्रमुख उन्नायक थे। वह पराजयबोध के कवि नहीं हैं। उन्होंने आम आदमी के अस्तित्व और पहचान की भयानक विलुप्तता को जिस तल्ख़ी से महसूस किया, उतनी ही पैनी आंखों से 'दुश्मनों' की शिनाख्त की और उतने ही प्रखर स्वर से उनके ख़िलाफ़ उठ खड़े होने का आह्वान भी किया।

रचना भी नपुंसक हो सकती है और उसका प्रभाव नपुंसकत्व को ही बढ़ाता है। कवि होने का गौरव ओढ़े हुए ऐसे ही रचनाकारों की ओर संकेत करते हुए छविनाथ जी ने लिखा था—'हम जानते हैं / ख़ेमों में बंटे हुए / बहुत सारे लोग हमारे अपने नहीं हैं / उन्होंने अपने-अपने हिस्से का समय संत्रास के नाम लिख दिया है / अपनी अस्मिता को चढ़ा दिया है सरे आम नीलाम पर।' उनका मत रहा है कि समय की ग़लतबयानी करने वाले विभ्रमित रचनाकार व्यवस्था वाहकों को अपने प्रचार माध्यमों के बल पर भाषा का वेश्याई इस्तेमाल करने की छूट दे देते हैं। उन्हें खुल्लमखुल्ला छोड़ देते हैं, 'अपने जेबों में भरे अंधेरे को—करोड़ों दहलीज़ों पर छींटने के लिये।' उन्हें अवसर देते हैं 'शब्दों की आड़ में / एक शब्द की ओर से / दूसरे शब्द के खिलाफ़ लड़ाई का स्वाँग करने के लिये, 'एक क्रांति की भूमिका में / बेखौफ एक खेमें से दूसरे खेमें तक टहलने के लिए।' आम आदमी की आँखों पर भाषा की धुंध उछालते हुए और संविधान का मनमाना अर्थ पगुराते हुए महामहिमों के आशय का वयान छविनाथ जी ने बार-बार किया है। वह जानते हैं, इसलिये जना देते हैं कि उनके आशय का आकाश जो भी सुबह उगायेगा, वह लहूख़ोर होगी जिसका पेशा होगा गांवों को उजाड़कर महामगरों के नीलामगाह में खड़ा कर देना' जहाँ मशीनी आंखों में संवेदना का भद्दा और सतहीबिम्ब उतारा जायेगा; उनका श्रम

ख़रीदा जायेगा, उनका खून उगाहा जायेगा। इस जानकारी की रोशनी में वह तेवर बदलकर पूछते हैं—'आखिर क्यों हम (ऐसे) गोश्त फ़रोशों की निगाह में टंगे रहना चाहते हैं।' 'जो हमारी भूख के मोर्चे पर / सफेद व्यूह का युद्ध रचते हुए / शहतूत की पत्तियाँ खाकर / रेशम के लच्छों में लिपटे हुए / चन्द (गोश्त फ़रोश) हमदर्द हमें क्यों सिखाना चाहते हैं अहसानमन्द होने का सबक़ ? छविनाथ जी का यह तेवर उनकी युयुत्सावादी काव्य चेतना का सरोकार है जो आदमी की पस्त मानसिकता को उसी के अस्तित्व विवेक की आग से तपाती है, उसकी रीढ़ की हड्डी को सीधा करती है और हताशा में मोतियाबिन्द का वहम ओढ़े आँखों में उँगली डालकर अपनी अवस्था के लिए जिम्मेदार 'दूसरे' और 'तीसरे' आदमी की शक्ल और स्वरूप देखने को विवश करती है।

१९८७ में प्रकाशित अपने पाँचवें कविता संग्रह 'कविता में जीने का सुख' की भूमिका में छविनाथजी ने लिखा है, 'कविता अपने सरोकारों की भूमिका में इतिहास की अनगढ़ता को तराशती चलती है।' यह अनगढ़ता वैज्ञानिक टेक्नोलाजी की उपलब्धियों के संदर्भ में सामाजिक मूल्यों की जड़ता से पैदा होती है। सांस्कृतिक मानव में भेद की दृष्टि बर्बर सोच की उपज है। आज धर्म, जाति, लिंग और (अर्थव्यवस्था के कारण) धनी-निर्धन के बीच भेद की अचल मान्यता वैज्ञानिक निष्कर्षों के विपरीत जाती है। ऐसी मान्यताएँ इतिहास में अनगढ़ता पैदा करती है। कविता मनुष्य की संवेदना को आधुनिक संवेगों के समानान्तर विकसित करने की चेष्टा करती है। वह 'न तो बन्दूक़ है / और न मशीनगन है—लेकिन तिलमिलाती हैं तो अंधेरे के आततायी आदमख़ोर मुखौटों को भून देती है / करोड़ों हताश-निराश लोगों को नई जिन्दगी देती है / देश और काल को खून देती है।' अंधेरे के आततायी मुखौटे सांस्कृतिक मानव की इतिहास-यात्रा को 'एम्बुश' करते हैं, प्रतिघात का दाँव लगाते हैं पथ पर बूबीट्रैप' बिछाते हैं और शान्ति और सुख की स्वाभाविक कामना के गिर्द बारूद के ज़ख़ीरे जमा कर देते हैं। कविता ऐसे मुखौटों की सही पहचान को उजागर कर देती है। छविनाथजी ने इसीलिये कविता को आपस में टकराते बिम्बों को उजागर करने की कोशिश में युद्ध झेलता हुआ एक दरपन' कहा है।

बाद में जब युयुत्सावादी कविता की सीमित और इकहरी व्याख्याएँ होने लगीं। उसे 'शब्द बल' के बजाय 'बारूद बल' अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा तो छविनाथजी ने कलकत्ता के कुछ समर्थ रचनाकारों के सहचिन्तन के आधार पर 'नवाग्रह' गोष्ठी की स्थापना की। डा० कृष्णबिहारी मिश्र के सम्पादन में १९८५ में गोष्ठी के रचनाकारों की कविताओं का प्रथम संकलन 'नवाग्रह' नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें संकलित छविनाथजी की एक कविता 'अनार-गाछ रोशनी के अक्षर' कविता के मूलधर्म की व्याख्या नये सिरे से करती प्रतीत होती है। मेरे आंगन में तो

कहीं नहीं है कोई नागासाकी (या) हिरोशिमा' जहाँ ज़ेहन को बारूद-मुक्त करती है, वहीं आणविक अस्त्रों के ख़तरे से सम्पूर्ण मानवता को आगाह करती है। उनकी चेतना में कविता की अवधारणा 'मिट्टी की खुशबू' जैसी है, एक ऐसी 'रोशनी' जैसी है जो पूरे आंगन (धरती के आंगन) को हरा कर जाती है, जिसकी ध्वनि संचेतना के कानों में 'अनार-गाछ' सी निरन्तर बजती रहती है।

छविनाथजी की कविताओं में आग, किरण, सूर्य, रोशनी और फूल, गंध, गमक महक जैसे शब्द बार-बार आते हैं। इसी प्रकार उनके विशेषण पदों में निषाद चेतना, गायत्रछन्द, अद्वैत विराम, अदिति विन्दी, अनिर्वाणदीप्ति, इन्द्रतमा चेतना, अंगिरस्तमा संस्कृति आदि वैदिक-पौराणिक शब्द प्रक्षेप मिलते हैं। उन्होंने 'ऋचगीत' नाम से वेदों की ऋचाओं का गीतान्तरण भी किया है। उससे उनकी कविता की मूलदृष्टि और उसके संदेश को समझने में मदद मिलती है। 'कविता में जीने का सुख' पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है—अतीत की पुरा सम्पदासे रस ग्रहण कर एवं वर्तमान की भित्ति पर उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्षशील प्रचेष्टा भारतीय कविता का मूलाधार है। जिन कवियों में यह मूलाधार चेतना है, उनमें छविनाथ मिश्र एक प्रमुख हस्ताक्षर हैं।' वास्तव में सूरज, अग्नि आदि प्रकाश और ताप के वाहक-तत्व अतीत की पुरा सम्पदा हैं। फूल उनके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना का रूप है, उनकी कल्पना-कविता का प्रवक्ता भी। कविता को इतना महिमामंडित करना कि वह किसी के पक्ष में / या किसी के खिलाफ / अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी' होकर 'ईश्वर से भी बड़ी हो जाए, छविनाथ मिश्र जैसे सिद्ध कवि के दृढ़ 'कन्विक्शन' के कारण ही सम्भव हुआ। इस आस्था का मूलाधार है मनुष्य के भीतर अवस्थित एक शिव-संभवा अग्निपुंज का अहसास जिसकी साक्षी में वेदकाल से लेकर आज तक का विशाल वाङ्मय खड़ा है। यह अग्निपुंज जब सामाजिक चेतना में 'कचनार' या 'अनार गाछ' की तरह फूलता है तो उसकी सुगन्ध 'कविता में जीने के सुख' को दूर-दूर तक सम्प्रसारित कर देती है। कविता में जीने का सुख केवल सृजनकर्ता का एकाकी सुख नहीं है। यह वह सुख है जो तमाम आशंकित और आतंकित करने वाले रहस्यों के पर्दाफ़ाश हो जाने से मिलता है, जो मानवसत्यों के उद्घाटित होने से मिलता है, जो 'अंधेरे से डरे लोगों की हथेली पर जरा सी आग रख देने' से मिलता है, जो उनकी लड़ाई में शामिल होने से मिलता है, जो 'मुक्ति मूल्यों के लिए स्वयं को तोड़ते हैं' और स्वयं टूटकर 'टूटते हुए हर सिलसिले को जोड़ते हैं।' छविनाथजी ऐसे लोगों के लिए अपने शब्दस्नेही दिये जलाते हैं, उनके लिए 'चिकना, दूधफेनी उजाला बाँटते हैं और वनस्पतिवर्ण होकर अस्मिता की भूमियों पर एक मौसम की तरह पसर जाने की कामना करते हैं। यही कामना छविनाथजी की कविता का ज्योति-छंद है, उसका अमृत-चरित्र है। ●

आरम्भ : ज्योति-यात्रा का
(१९४५ से १९५५)

सन् १९४५। कलकत्ते के अलीपुर जेल की अँधेरी कोठरी। कोठरी में प्रयाग के ऊँचडीह गांव का अठारह वर्षीय एक सुदर्शन युवक। युवक कोस रहा है अपनी उस क़िस्मत को जिसने उसे हावड़ा स्टेशन पर बिना टिकट पाँव रखने के जुर्म में यहाँ तक पहुंचाया। चिन्तित है, गांव में जाँता पीसती उदास मां और खेत-खलिहान में चक्कर लगाते उन्मन भाई के लिए। दुखी है स्व-रचित कजरी, चैता, सोहर, बिरहा घनाक्षरी. सवैया, सोरठा, दोहा और चौपाई से भरी अपनी उस पुस्तिका के लिए जिसे क़ानून के रक्षकों ने उससे छीन लिया। पर दुख और चिन्ता से लाभ ? गुनगुनाता है—'होहिहैं सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावहिं साखा। दायें हाथ की बँधी मुट्ठी, बायें हाथ की हथेली पर मारकर कहता है—"जो होगा, देखा जाएगा।' मुस्कुराता है। अँधेरा छँट जाता है। समय बीतता है। पहुँच जाता है—काशीपुर के श्रमिकों की बस्ती में। उल्लसित और उत्साहित होता है—समाजवादी नेता शिवनाथ बनर्जी और अरुणा आसफ अली के नेतृत्व में आयोजित मजदूर सभा (सन् १९४६) में अपनी एक प्रकाशित रचना सुनाकर—

'मुझसे मेरा प्यार न छीनो
रोटी का संसार न छीनो'

उस समय उसका यौवन यदि प्रेम का भूखा था तो पेट रोटियों का। उसके व्यक्तित्व की संरचना में निमग्न था यौवन, रूप, सौन्दर्य और प्रणय का देवता, अन्याय और

दारिद्र्य के प्रति अनिरुद्ध आक्रोश, गाँव का प्राकृतिक सौन्दर्य, परम्परा प्राप्त अमरत्व का दर्शन। लेखनी इतराती थी यह लिखकर कि—

शलभ जलता न दीपक पर, अगर कुछ प्यार मिल जाता,
प्रणय के देवता को भी, नया संसार मिल जाता।
तुम्हारी कामनाओं में यदि कुछ दाह होती तो,
हमें उद्‌गार मिल जाता, तुम्हें अधिकार मिल जाता।

(सन् १९४८)

स्पर्श गात का प्रेम न रूपसि!
आत्मसात का नेम तत्वमसि।
मैं तू केवल एक भ्रान्ति है,
मैं तुम हूँ, तुम मैं हो प्रेयसि।

० ० ०

मधुर-मधुर पीड़ा बिखराकर, मनमें कौन चला जाता
जीवन के चौराहे पर यह कैसा दर्द बसाया मैंने
क्या खोया, क्या पाया मैंने।

० ० ०

रोते रोते रात बिता दी ··· ···
मधुगीतों की विस्मित छाया देख रही थी मौन सितारे।
तम के पनघट पर मन मारे खोज रही थी मौन इशारे।
सुलझी नहीं पहेली फिर भी, जीने का उद्‌गार न पाया।
भावों का विस्तार न पाया, तारों का अभिसार न पाया।
चिरवियोगिनी निशा-नागरी,
सिर पर लेकर गगन-गागरी
शबनम सम आँसू के मोती
बोते-बोते रात बिता दी
रोते रोते रात बिता दी।

० ० ०

प्रणय की पीड़ा में, आँसुओं की निर्मल धारा में प्रवाहित कल्पना में, मरघट के आँगन में जीवन की प्यास बुझाने वाली आशा में, मिलनपथ पर यौवन के भार हो जाने के भय में, भीगे सपनों में मरणशील प्रेयसी के प्यार-सपने-विश्वास-उल्लास-वरदान में, प्रणय-पंथ की धूल और जीवन की भूल में, यौवन के श्रृंगार में, साधों के अभिसार में, विरह-मिलन-संताप—सभी में अमरत्व का दर्शन करते हुए कवि "पागल" हो जाता है। कभी यह कहता है कि—

दीप की लौ बुझी भाव 'पागल' हुआ
गीत शिल्पी बहा वन्दना बह गयी।

तो कभी चौंककर स्वयं से ही यह प्रश्न करता है—

सांस की वीणा किसी की याद लेकर बज उठी,
हो गये हैं गीत 'पागल' खींचता है कौन दामन ?

दिन थे—कल्पना - भावना की लोल लहरों पर बहने - तैरने के, उत्साह के, चुनौतियों के—

अंगार अन्तर का जला पाता न स्वप्नों की शिला
बन न पाती भावनाएँ सत्य की नव-शृंखला
जब पराजय ही पराजय मंजिलों को छू रही हो
देखना है, तब विजय की कामना कितनी बड़ी है !
देखना है कल्पना से साधना कितनी बड़ी है !

जब जीवन का लक्ष्य अप्राप्य हो, प्यार की झोली अभिशाप से भरी हो, मात्र दुर्भाग्य का ही सौभाग्य प्राप्त हो तब प्रणय की याचना, प्राप्ति की आराधना, साधना की वास्तविकता और महत्ता की जाँच आवश्यक थी। पर इसके साथ ही साथ आवश्यक था लूटवीरों के मुहल्ले और महल के पड़ोस पर भी ध्यान देना—

एक रोटी ··· एक रोटी
भूख का मारा हुआ
इन्सान है शायद मरा !
ज़िन्दगी की हार देखो
पेट का संसार देखो
मिल गया तो खा लिया
या बिना खाये कहीं सोया
कहीं पाया कहीं खोया
दानवीरों के महल के पास ही
यह मौत का साथी
एक दाने के लिए
मोहताज, मुँह बाये रहा।

दानवीरों अर्थात् लूटवीरों की कान के नसें इन गरीबों की बेकसी-बेबसी की काँपती कराहें सुनकर नहीं हिलतीं। उनका कोष तो बाप-दादों की कमाई से भरा है उन्हें खाने की कमी नहीं, फिर भी फिक्र सिर्फ धन कमाने की है। उन्हें—

क्या ज़रूरत है कि महफिल छोड़कर वे
लालपरियों की उठें

क्या ज़रूरत है कि वे मरहम लगाने के लिये
इस दिलजले के घाव पर
नरम तकियों, मसनदों को छोड़कर माया, उठें।

अन्त में कवि को लगता है कि भगवान न तो मन्दिर में हैं, न मस्जिद में, बल्कि वह अपने वैभव-पराक्रम को छोड़कर, दर-दर ख़ाक छानता पेट की ज्वाला बुझाने के लिए दीनता का स्वरूप बनकर भीख मांग रहा है, पर उसे कोई एक दाना और दो घूँट पानी भी नहीं देता। और—

बन गया वह मौत का बेढ़ब निशाना
चीथड़ों की पर्त में लिपटा हुआ
यह लक्ष्मी से रूठकर
तन जलाकर, मन जलाकर
क्षीरसागर को सुखाकर
लूटवीरों के मुहल्ले में घिनौना-सा पड़ा
भगवान है शायद मरा !
इन्सान है शायद मरा !

दृष्टि लूटवीरों पर ही स्थिर होकर नहीं रह जाती। 'कृषक बाला' की ओर भी उठती है :—

जा रही है कृषक बाला
रूप की चिनगारियों से
अधखिला यौवन सजाकर
केश काले, गुँथी वेणी
जान पड़ती मधुप-श्रेणी
लाल चूनर में कढ़े हैं
बेल-बूटे
फूल-पत्ते
वेश उसका देखकर हैं भौंकते
कुछ नये कुते
सहम कर फिर ठिठक जाती
पुनः ढेले से भगाती
बाँसुरी की धुन कहीं से आ रही है
दो नये मासूम मुजरिम हैं अभी
वह मुस्कराई देखकर
कंचुकी के क़ैदखाने में तुले हैं

जो बग़ावत की तुला पर
जा रही है कृषक बाला—

वह कहां और क्यों जा रही थी, उसने वहाँ क्या किया, कब लौटी इन सबका वर्णन अगली पंक्तियों में इस प्रकार है—

देखने आयी अकेली
ज्वार के गुच्छे पके हैं
रह गया है खेत अब वह
और बाक़ी कट चुके हैं
कुछ देर रहकर घर चली
सुलझा रही है
पर न सुलझी
क्यों आज उसकी रूह कांपी
तान सुनकर बाँसुरी की
ज़िन्दगी है
एक मुश्किल-सी पहेली
किस अनागत की प्रतीक्षा में
कँपी कौमार्य की कच्ची हवेली
आ गया फिर
हवा का सुकुमार झोंका
उड़ा लेकिन झट सँभाला
फिर न आँचल तनिक खिसका
रुक गयी है फिर लजाकर
जा रही है...

'कृषक-बाला' का चितेरा यह कवि आदर्शवादी-प्रगतिवादी तो है पर सबसे पहले ऐसा युवक भी है जिसे स्त्री का रूप-सौन्दर्य सहज भाव से आकर्षित करता है। उसकी रूप-सौन्दर्य के प्रति यह आसक्ति सन् १९५० की 'ग्रामवधू' में भी सुरक्षित है—

कितनी सुन्दर ग्रामवधू है
गागर भरने चली अकेली
रूप नया है, नाज़ नया है
चाल नयी अन्दाज़ नया है
सहम सहम कर डग भरती है
शायद तीरन्दाज़ नया है।

क्या फबती है काली चूनर
ज्यों बदली में चाँद छुपा हो
गाल गुलाबी आँखें नीली
यौवन का उन्माद नया है,

कविता काफी बड़ी है, जिसमें ग्रामवधू की सुबह से रात तक की चर्या का विस्तृत वर्णन है। यथा—पानी भरना, रसोई बनाना, बच्चे को दूध पिलाना, ननद के साथ जाँता पीसना, धान कूटना, गीत गाना, सहेली की अगवानी करना, खेत की रखवाली करना, सबको खिलाना-पिलाना, स्वयं खाना और अन्त में सोना। दिनचर्या का वर्णन समाप्त करते हुए कवि कहता है—

हुआ सबेरा शाम हो गयी
यूँ ही उमर तमाम हो गयी
युग से नूतन प्यार उमड़कर
बहता आया है घर-घर में
लाज भरी मुस्कानों ने कब
टीस न भर दी किस अन्तर में

लाज भरी मुस्कान की जो टीस कवि के अन्तर में भरी। उसका परिणाम थी यह लम्बी कविता फिर भी उसका कहना है—

कवि ने अपनी कलम तोड़ दी
भागा-रोया आँख फोड़ ली
लिखा न कैसा रूप वधू का
चुप रह गया, कहा केवल यह
नारी एक अजीब पहेली
गागर भरने चली अकेली।

सन् १९५० ई० में कवि की आयु मात्र तेइस वर्ष की थी। इस उम्र में यदि वह प्रेम के गीत न गाता, कल्पना के पंख लगाकर आकाश के विस्तार को न नापता, भावुकता की लहरों में फूल-सा न बहता तो क्या करता ! असमय ही बूढ़ा हो जाता ? कवि की उस समय की कविताएँ अपने पूर्ववर्ती कवियों की भाषा-भाव-शैली की गहरी छाप लिए हुए हैं। उच्छ्वास अधिक, अभिव्यक्ति असंयमित है, प्रवाह यत्र-तत्र खंडित है। वस्तुतः सन् १९४५ और १९५० तक का कवि का श्रम कवि होने की तैयारी का समय है और उस काव्य की भूमिका है जो भविष्य में नया रूप ग्रहण करने वाली थी। कवि का प्रस्तुत रचना-काल हिन्दी कविता का वह काल है जब प्रयोगशील कविताओं का लेखन आरंभ हो चुका था पर, साथ ही साथ छायावादी, प्रगतिवादी, तथा हालावादी काव्य प्रवृत्तियाँ भी प्रवाह में थीं, पर 'नयी कविता' का

आन्दोलन प्रकाश में न आया था। कवि में उत्तर छायावाद कालीन काव्य की सारी प्रवृत्तियां मौजूद थीं, पर नया होने के कारण उसमें वह परिष्कार और प्रौढ़ता न थी जो उससे वय में अधिक मँजे हुए क़लम के धनी कवियों में थी। कवि अपने व्यक्तित्व के अनुरूप नये किन्तु सही रास्ते की तलाश में था। उसकी वह तलाश सन् १९५० और १९६० के मध्य अपेक्षाकृत अधिक तेज हुई, जिसकी क्षीण झलक १९५० और १९५५ की कविताओं में तथा स्पष्ट झलक १९५५-१९६० तक की कविताओं में है।

सन् १९५१ में कलकत्ता की ढाकुरिया झील के किनारे, गर्मी की दोपहर में बैठकर वह लिखता है—

आज ख़त आया तुम्हारा,
मन नहीं लगता हमारा।
झील के तट मौन गुमसुम,
पढ़ रहा हूं खत तुम्हारा।
एक हल्की लहर उभरी,
छू गयी सहसा किनारा।
सामने ही थका-हारा,
एक पंछी बेसहारा।

पंछी पानी में डुबकियाँ मारकर चोंच घिसता है, फिर अचानक एक ग़ोता और मारकर चारा चुगने के लिए अनजानी दिशा में उड़कर दृष्टि से ओझल हो जाता है। दोपहर के इस नज़ारे में कवि अपने को सर्वहारा और अकेला अनुभव करता है। वह उस सहारे को खोजता है जो उसे विस्तार दे सके। प्रेयसी, उसके संकेत, प्रीतिधारा का बन्धन और अभिशाप-कारा में बन्दी जीवन! उसे मुक्ति का कोई चारा नहीं दिखायी देता और फिर

उष्ण किरणों की सुनहली—
धूप का पहने ग़रारा,
जेठ की दुपहर अकेली
खींचती है मन हमारा।
स्वेद की बूँदे छिड़ककर
सींचती है मन हमारा
क्या लिखें भरता नहीं दिल
क्या लिखेगा पंथहारा।

झील, पंछी, धूप, दोपहर के जीवन्त बिम्ब के साथ कवि की रोज़ी के लिए सही जाने वाली पीड़ा, उपायहीनता उस समय चरम पर पहुंच जाती है, जब वह कहता है—

और ही दूरी बढ़ी है
पंख जितना ही पसारा।

दोपहर को धूप का ग़रारा पहने देखना, बेसहारा पंछी में स्वयं को महसूस करना और यह सब इतनी सुघर सहज भाषा में अभिव्यक्त करना, तत्कालीन हिन्दी कविता के लिए सुखद आश्चर्य के साथ नये प्रस्थान की सूचना के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

सन् १९५३ में प्रयाग के ऊँचडीह गाँव में बैठकर अंकित दोपहरी का एक और चित्र। चिलचिलाती धूप में एक झोपड़ी के सामने सूप फटकती बुढ़िया को, पूरब के घनी छाँह वाले ऊँघते पीपल के नीचे पूँछ समेटे, जीभ निकाले-हाँफते-मुँह फैलाये-इर्द-गिर्द की मक्खियों को मारते कुत्ते-कुत्तियों को देखने के बाद कवि घर-दरवाज़ों, नाच-तमाशों, गाजों-बाजों ढोलक-ताशों की सभी गतिविधियों का अभाव महसूस करते हुए, लक्ष्य करता है—

लू चलती है हू-हू करती
चीख रही हैं, कमसिन डालें, हरी पत्तियाँ
आमों की, नीमों की
घरों के करीब से
द्वार के नज़दीक से
सुअरों के बच्चे
चिंचियाते ग़ुर्राते
भाग रहे तालाबों की ओर गाड़ने
सूरज के ग़ुस्से को कीचड़ में।

इसके बाद दृष्टि जीर्णतम स्तूप से चुप, तालाब की भीटों, जिनके ढेले अभी तक नहीं फूटे हैं—ऐसे दूर-दूर तक परती जैसे फैले खेतों तथा विधवा-सी बिलखती चुके कछारों की गंगा की रेत पर से होती हुई उन बादलों के टुकड़ों पर टिकती है जो आसमान के पके घाव जैसे मुँह पर नई रूई के फ़ाहों-से चिपके हैं। कवि अपने जीवन में व्याप्त दोपहर के सन्नाटे की चुभन गहराई से अनुभव करता हुआ कहता है—

चुभ रहा है कहीं कुछ तो
दोपहर भर
बहुत भीतर
कौन झेलेगा भला यह
मौसमी विद्रूप!

निजी जीवन में क्रमशः गहरे पैठते उत्तप्त सन्नाटे और सूनेपन को, वाह्य परिवेश के सूनेपन और सन्नाटे से एक करते हुए वह जब धरती की रेत को विधवा-सी बिलखती

महसूस करता है और सूर्य के क्रोध से पीड़ित सुअरों के बच्चों को चिचियाते-गुर्राते तालाब की ओर भागते तथा उस क्रोध को कीचड़ में गाड़ने के उद्देश्य को परखता है तो कविता अपनी संवेदना में विशिष्ट और व्यापक हो जाती है। 'निराला' की 'वह तोड़ती पत्थर' से यह कविता अपनी इस संश्लिष्ट पर सहज और तीव्र अनुभूति के कारण अधिक नयी और विशिष्ट है।

सन् १९५४ में साप्ताहिक 'प्रकाश' में प्रकाशित 'दिशा-दृष्टि' शीर्षक कविता भी अपनी संवेदना में विशिष्ट और एकदम नयी है। टीलों-कंगूरों-शाखाओं पर बैठी सम्पाती की निष्कर्मा-मांसजीवी औलादों की दृष्टि जब संभ्रान्त बस्तियों के इर्द-गिर्द की चमरौटियों में तेली के किसी बैल, मुखिया के बछड़े, ठाकुर की भैंस की लाश को नहीं देखती तो पत्तों-छिद्रों-दर्रों-दरारों से छन छन कर आती सूरज की किरणों को खीझकर कुरेदती हैं और—

चमारिनें
अपने अपने आँगनों में
नन्हें मुन्ने बछड़ों की
खाल उधेड़ती हैं
भूखे प्यासे गृद्धों की जमातें
पंजों पर चोंच घिस घिस कर
काट देती हैं तमात रातें
दष्टि खुलते ही
गर्दन मुड़ते ही
उड़ जाती हैं उन दिशाओं की ओर
जहाँ मुर्दा गुरिल्लों
भेड़ियों भालुओं
और अजगरों की हड्डियाँ
जंगली बस्तियों से वनान्तों तक
बिखरी हैं
छितरायी हैं।

सूर्य को छूने की महत्वाकांक्षा रखने वाले सम्पाती की सन्तानों का निष्कर्मा और शवजीवी होना, बस्ती में शवों के अभावों में भूख-प्यास से पीड़ित होकर सूरज की किरणों को खीझकर कुरेदना, पंजों पर चोंच घिसघिस कर रात काटना, बस्तियों से वनान्तों तक शव की तलाश में भटकना, वहाँ सिर्फ हड्डियाँ ही पाकर वापस लौटना पुनः टीलों शिखरों शाखाओं-कँगूरों पर बैठना, दृष्टि को शवों की खोज में केन्द्रित करना, और चमारिनों का आँगन में नन्हे मुन्ने बछड़ों के शवों की खाल उधेड़ना सभी

कुछ प्रतीकात्मक और विभिन्न अर्थों को एक साथ ध्वनित करने वाला है। ऐसा लगता है कि कवि उन बुद्धिजीवियों-विचारकों को गृद्ध समझता है जो जीवन के मात्र निषेधात्मक, निर्जीव सड़े गले पक्ष पर ही दृष्टि रखते हैं और उन्हीं पर अपने साहित्य और व्यक्तित्व को जीवित रखते हैं। इन बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क की निष्क्रियता उन्हें जीवन जगत के प्रकृत-जीवन्त, स्वस्थ पक्ष को नहीं देखने देती और यदि वे उसे देख भी लेते हैं तो शवभोजी होने कारण खीझकर उसे नष्ट कर देना चाहते हैं। 'गृद्ध' मात्र ऐसे बुद्धिजीवियों का ही नहीं मौत के व्यवसायी युद्ध प्रेमी 'राष्ट्रों, अर्थ के लिए अकाल-महामारी की प्रतीक्षा करने वाले मुनाफाखोर व्यवसायियों और पूँजीपतियों का भी प्रतीक है। चमारिनों का अपने अपने आँगन में नन्हे-मुन्ने मृत बछड़ों की खाल उधेड़ना सम्भवत: उस संवेदन-शून्यता का प्रतीक है, जो अपने निजी कर्म की क्रूरता की पहचान को असम्भव बना देती है।

यह तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है कि कवि ऐसी कविताएँ तब लिख रहा था जब एक ओर दूसरा सप्तक (सन् १९५१) प्रकाश में आ चुका था और दूसरी ओर 'नये पत्ते' (सन् १९५३)। 'नयी कविता' (सन् १९५४) का प्रकाशन रामस्वरूप चतुर्वेदी और जगदीश गुप्त के सम्पादकत्व में शीघ्र होने वाला था। कवि की काव्य दृष्टि अपने समकालीन उन नये कवियों की दृष्टि से सर्वथा भिन्न थी जो पश्चिम से आयातित विचार-दर्शन से स्वयं को नया बनाने की प्रक्रिया में लगे थे।

सन् १९४७ में भारत का स्वतन्त्र होना, १९४८ में महात्मा गांधी की हत्या १९४९ में रजवाड़ों की रियासतों का स्वतन्त्र भारत में विलय, कश्मीर का युद्धविराम १९५० में भारत का गणतन्त्र होना, १९५२ में प्रथमबार लोकसभा के लिए चुनाव, १९५३ में भारतीय नागरिक तेनसिंग द्वारा हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर विजय १९५४ में चीन के साथ भारत का 'पंचशील' के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर—इन सब के मध्य ऐसा कुछ भी नहीं था कि भारतीय कवि मनुष्य के अस्तित्व और व्यक्तित्व को बहुत छोटा और महत्त्वहीन करके देखता। भारत में उस समय न तो इतना औद्योगिक विकास हुआ था कि महानगर अपना ग्रामीण चरित्र खो देते, न पूँजीवाद का वह रूप आया था जो व्यक्ति को वस्तु बना देता है और न विज्ञान के क्षेत्र में इतनी प्रगति हुई थी कि उसकी सभ्यता यन्त्र-सभ्यता हो जाती। भारत ने तबतक ऐसा कोई महायुद्ध भी न झेला था कि उसका जीवन लाशों की बदबू से भर जाता। यह सब कुछ यदि हुआ था तो पश्चिम के देशों में। विश्व-युद्ध की आशंका भी वहीं पर थी। भारत में यदि उसकी चिन्ता की जाती थी तो मात्र इसलिए कि उससे पूरी मानव सभ्यता के विनाश की सम्भावना थी। स्वतन्त्रता के बाद के ये वर्ष अंग्रेजों से विरासत के रूप में प्राप्त दरिद्रता, अकाल, भुखमरी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, अनैतिकता के वर्ष अवश्य थे पर साथ ही नयी आशा, नये संकल्प, नयी आस्था, नये कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व

के भी वर्ष थे। ऐसे में विकट से विकट स्थिति में भी आस्थाहीनता, नैराश्य, आत्मलघुता, व्यक्ति-अस्तित्व के खतरे में पड़जाने का स्थायीबोध स्वाभाविक नहीं अपितु आयातित विचारदर्शन का परिणाम था। छविनाथ मिश्र जिस नयी कविता के कवि थे वह कविता हिन्दी की उस काव्यधारा के स्वाभाविक विकास की परिणति थी जो भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, प्रसाद, दिनकर, शिवमंगल सिंह, 'सुमन' इत्यादि से होती हुई आई थी और समय के साथ आगे बढ़ने को प्रस्तुत थी—इस काव्य धारा की विशिष्टता है—जीवन और मनुष्य में अखण्ड अपराजेय आस्था।

सन् १९५० से १९५५ तक लिखी अपने नयेपन और ताजगी के कारण स्पष्ट पहचाने जाने वाली कविताओं में कवि की आस्था और आशा—वैयक्तिक चिन्ताओं, दु:खों-यन्त्रणाओं के बीच भी सुरक्षित है। सन् १९५३ की 'बूढ़ा सूरज' में वक्त के मुर्ग की 'कुकड़ूकूं' सुनकर कवि की नींद खुलती है प्रिया को जगाता है—

हारजीत, पीर-प्रीति किसी भी परिस्थिति में आजतक अपना रास्ता न बदलने वाला, पर प्रतिदिन अपने चेहरे का रंग बदलने वाला, रूप और अरूप का सौदागर, बहुरूपिय—बूढ़ा सूरज, रोज़ की तरह आज भी रोशनी की रंगीन धारीधार चादर ओढ़कर क्षितिज की चौखट पर हल्का सा तमाचा मारकर, मुस्करा रहा है, उषा का रूई सा कोमल गाल लाल हो गया है। तुम अभी तक सो रही हो। उठो! मुँह हाथ धो लो। चाय बनाओ मैं पी लूँ।

फिर कवि बूढ़े सूरज की दास्तान सुनाने की तीव्र इच्छा से चायपान का कार्यक्रम स्थगित कर कहता है—

भरी जवानी में
इसने अपनी बहू का
        गला घोंटने की
        कोशिश की भरपूर
                मगर दूर ही दूर
                छटपटा कर मर गये
                        इसके सारे सपने
                        और पी न सका
                        अंधेरे की इकलौती बेटी रात का खून
                        और हार गया
सत्य की एक नन्हीं साँस से
संभलकर बैठो
मैं तुम्हारा गला नहीं घोटूँगा
इसलिए कि

तुमसे प्यार है, वैर नहीं
वह देखो
सबेरे सबेरे जूठी पत्तल के लिए
एक कुत्ता, एक कुत्ते से लड़ गया
वक्त का मुर्ग़ अभी अभी
छत पर बांग देकर उड़ गया।

सूरज की, रंगीन चादर ओढ़े बूढ़े के रूप में कल्पना, रात की उसकी बहू के रूप में कल्पना, सूर्य के प्रतिदिन के उदय को रात का गला घोंटने की कोशिश के रूप में देखना, और रात के आने को उसके जीवित रहने के रूप में महसूस करना कवि की निर्बन्ध आनन्द दायिनी कल्पना का चमत्कार है। पतियों द्वारा असुन्दर सांवली पत्नियों की गला घोंटकर हत्या हमारे समाज का कटु सत्य है। इस सत्य की पहचान को, दिन-रात की आवृत्ति के रूप में देखना और प्रिया से यह कहना कि 'डरो मत, गला नहीं घोटूँगा, फिर जूठी पत्तल के लिए लड़ते कुत्तों को दिखाते हुए कविता को, इन शब्दों में समाप्त करना कि—"वक्त का मुर्ग अभी अभी छत पर बाँग देकर उड़ गया और मेरी नींद खुल गयी"—इस सत्य को व्यंजित करता है कि कवि इस बात को समझ गया है कि भूख विवेक-शक्ति का अपहरण कर लेती है और समान स्थितियों का सजातीय-भोक्ता अपने ही लोगों से छोटे-छोटे स्वार्थ के लिए लड़ने लगता है। जबकि ऐसे समय तो उसकी नींद खुल जानी चाहिए।

सन् १९५३ की कविता 'कनक मृग' का कनक मृग—माथे से माथे पर दौड़ने-कूदने-उछलने वाला, मनु की कई-कई पीढ़ियों को चर जाने वाला जीव है। इस समय भी चर रहा है। जंगल में अकेला घूम रहा है। कवि को इसका शिकार करने वाला कोई दिखायी नहीं देता। वह सोचता है—जहाँ युग की अन्तश्चेतना का उभार होगा, वहीं इसका शिकार संभव है।

'मेरी प्यारी रजनी गन्धा' (१९५३), ईमान की सरहद (१९५३), विवर्ती आग्रह (१९५४), मस्तिष्क की हवा (१९५५), नये क्षणों का स्वागत (१९५४), तुम और दर्पण (१९५४) परिधि (१९५४) इत्यादि मुक्त छन्द में लिखी ऐसी कविताएँ हैं जिनमें से किसी में कवि दर्पण में स्वयं को झांकने, अपना मोल आंकने तथा दूसरों के लिए जीवित रहने का सबक पढ़ने को कहता है, किसी में जन युग के सूरज के आने पर नई सुबह के पंछी को अंधेरा चुगते देता है, किसी में नभ के अक्षर संकेतों को समझकर यह संकल्प करता है कि—

तुम जहाँ खड़े हो
अभी वहाँ से तुमको बहुत दूर जाना है
और अमन का कंगन
धरती के हाथों में पहनाना है।

'धुयें की खेती' (१९५४) में वह देखता है—

सर्द रूमानी हवा के ओठ फड़के
बड़े तड़के फूल की आवाज
छूकर उड़ गयी
भोर के गीले, रंगीले आसमानी हाथ
क्षितिज के छतनार पीपल की टहनियाँ
हिल गईं
झूमे दिशाओं के नशीले और नीले पात
जागरण की नई वेला
सृजन की सौगन्ध खाकर
जहर से सींचे धुयें के खेत में कसकर कमर
विभ्राट दैत्याकार युग की
आँधियों से लड़ गयी।

तभी उसे अहसास होता है—ध्वंस की धमनियों में फिर से तेजी से खून दौड़ा और वह दिमाग की नसों को चूसकर भाग गया। कलम के किसान के पास बस धुयें की खेती ही सम्पदा के रूप में रह गयी। गीतों की पैदावार नहीं के बराबर है। ऐसे में विचारों के दाने कैसे उगें। विश्वास की फसल बरबाद हो गयी है और—

आखिरकार पैरों में अमन के
पुन: बेड़ी पड़ गयी
कल्पना की बेटियों के
हो न पाये तनिक पीले हाथ।

१९५४ के आस-पास विश्व के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्टण्ड रसल ने विश्व युद्ध की आशंका से त्रस्त होकर कहा था—यदि तीसरा विश्व युद्ध हुआ तो चौथे विश्वयुद्ध के लिए पृथ्वी पर मात्र पत्थर और कंकड़ शेष रह जायेंगे। कवि भी विश्वयुद्ध की परिस्थितियों को उभरते देखकर त्रस्त है। उसे अमन के पांव में बेड़ी और ध्वंस की धमनियों में खून तेजी से दौड़ता दिखायी देता है। विश्वास नष्ट, विचार खोखले हो गये हैं। मन आशंका-संशय-विनाश के धुयें से ढँका है—गीतों की पैदावार कैसे हो ?

ऐसा नहीं कि कवि ने ५०-५५ के मध्य गीत नहीं लिखे। पांच छ: गीत तो उसने मात्र विश्वयुद्ध की आशंका से ही त्रस्त होकर लिखे थे। यथा—

१. उड़ रही है शान्ति की कबूतरी डरी डरी।
उजड़ न जाय मांग प्यार से कहीं भरी-भरी ॥

° ° ° °

बुन रहे हैं जाल नाश का बहेलिए सभी।
बिछा न दें उसे कहीं सुबह हुई अभी-अभी ।।
(शान्ति की कबूतरी : १९५४)

२. तुम आज फूल की बस्ती में अंगार न बेचो दीवानो !
मत करो तिजारत लाशों की
युग का बाजार अमन का है।
(लाशों की तिजारत : १९५४)

३. भू की नव परिणीता बेटी
अभी सृजन के बेटे को भर आँख निहार नहीं पाई
रुको अभी मत करो ध्वंस से
जीवन और मरण का सौदा
मत सींचो नफरत का पौधा
इसकी जड़ें सूख जाने दो।
(नफरत का पौधा : १९५४)

अपनी काव्य-साधना के प्रथम चरण (१९४५ से १९५५) में कवि ने शान्ति, प्रेम, जीवन, मृत्यु, प्रकृति-ऋतु सम्बन्धी नये-पुराने दोनों ढंग की रचनाएँ की और 'स्वर सप्तकी' नाम से इनका संकलन तैयार किया। बंग प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की ओर से प्रकाशन की योजना बनी। हिन्दी के यशस्वी आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने कवि की सफलता चाहते हुए सम्मति दी—'पागल' उपनाम के बावजूद काफी होश हवास में लिखते हैं। भावों में अनूठापन भाषा में रवानी है।"

संकलन अर्थ की समुचित व्यवस्था के अभाव में १९५५ में न छप सका। सन् १९५७ में फिर प्रयास हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० उदयनारायण तिवारी ने सम्मति दी—"कविताएँ सरस, भावयुक्त एवं प्रसाद गुण पूर्ण हैं।" पर यह सम्मति लेना भी प्रकाशन के प्रयास को संभव न कर सका। संकलन आज भी प्रतीक्षा कर रहा है, उस साधारण किन्तु समर्पित व्यक्ति की असाधारण ज्योति-यात्रा (काव्य-साधना) के 'आरम्भ' को प्रस्तुत करने के लिए जिसकी प्रतिभा, वृहत ज्योति के संधान में चेतना के शिखरों और उच्चतर सोपानों पर धावन कर रही है और अबतक हिन्दी जगत को उपहार दे चुकी है—अंगना फूले कचनार (१९६२), समय दंश(१९७१), ऋचागीत(१९८६), टुकड़ों में बँटा आकाश(१९८६), कविता में जीने का सुख (१९८७) और कलम का दर्द (१९८९) ऋतुरंग (१९९५), सुनो कविता मेरा नाम ईश्वर है (१९९५) जैसी सशक्त कृतियाँ। हाँ वह प्रतीक्षा कर रहा है अपनी सी ही किस्मत लेकर पैदा हुए 'श्रुतिछन्दा' मेरे आँगन में अनार का एक गाछ' जैसे काव्य-संकलनों के प्रकाशन को। ●

डा० सुकीर्ति गुप्ता

कविता में मुक्ति की तलाश

मौत के खिलाफ़ युद्ध-अमृत की कल्पना
जाने क्यों ? मैंने इस दर्द को बुना, चुना
कविता में मुक्ति की तलाश एक प्रत्यय है
देखूँ कब मिलती है सपनों को व्यंजना

(पृष्ठ १६-क़लम का दर्द)

कवि को पता नहीं है कब उसके स्वप्न सार्थक होंगे ! वह एक आम आदमी है जिसका जीवन में संघर्ष करते हुये पोर-पोर चिटखने लगा है। बस कविता का आत्मीय, सहृदय, संवेदनात्मक बोध ही उसे शबनम जैसी ठंडक दे सकता है।

कवि की रचनाधर्मिता पार्थिव संघर्षों को झेलते पथराने लगी है। छन्द, गति, लय और धुन में मग्न रहने वाले कवि की जीवन की तान दुःख झेलते टूट सी गई। वह कहता है—

गीतों की यात्रा में कितना कुछ छूट गया
एक दर्द गदराया, एक छन्द टूट गया

या

कविता को तोड़ गया
रोटी का छन्द ज्ञान

(पृ० २० क़लम का दर्द)

कवि ने अपनी वेदना के माध्यम से समाज के कटु सत्य को उजागर किया है। मुक्ति का स्वर कविता की विशेषता भी है और उसकी कमजोरी भी बन जाता है। इसके माध्यम से कविता बहुत अधिक 'सब्जैक्टिव' न हो जाए, यह ध्यान रखना आवश्यक है। कविता का 'आब्जैक्टिव' होना जरूरी है। 'स्व' का 'पर' में पर्यवसान होना कवि का विस्तार होना है।

छविनाथ जी की कविताओं में आम आदमी की भावनाओं का प्रतिबिम्ब मिलता है। कवि उसके साथ हंसता है, रोता है, व्यंग्य करता है, गीत गाता है। कवि के क्षितिज का विस्तार होता है।

हरी-हरी पत्तियाँ तिजोरी में बन्द
कौन-गिने
कुर्ते में कितनै पैबन्द।

(पृ-१५ क़लम का दर्द)

कवि निराला भी इसी तर्ज में कहते हैं—

मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।

यह संवेदनात्मक मानवीय भावना कवि को महान् बनाती है। कवि का कार्य मनुष्य की चेतना का विस्तार करना, उसे परिष्कृत करना है। कवि ने अपने समय

की आकांक्षाओं और उत्तेजनाओं का प्रतिफलन किया है, एक नया प्रयत्न बोध दिया है। जीवन में स्वतंत्रता और समता की भावना फैल चुकी है। व्यक्ति अब जागरूक है, वह अपने मानवीय अधिकारों के प्रति सजग है। युग-युग के शोषणपाश से मुक्त होने का प्रयास मानव कर रहा है। मिश्र जी की कविता इस शोषण के प्रति सजग करती है। हमारे जीवन में बहुत से दायित्व कर्त्तव्य, सहयोग और मुद्दा के आधार पर चलते हैं, पर सभी सम्बन्धों से क्रमशः टूटता हुआ मनुष्य केवल व्यक्ति मात्र रह गया और समाज उसे शत्रु की भाँति प्रतीत होने लगा। मनुष्य अपनी आदर्श जीवन दृष्टि को छोड़ कर शून्य में अवस्थित हो गया। उसकी चेतना खंडित हो गई और व्यक्तित्व छिन्न-भिन्न हो गया। समाज के प्रति उसका विश्वास टूट गया। उसे अपनी सारी शक्ति विरोध से संघर्ष करते हुए लगानी पड़ती है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने ठीक ही कहा था कि वर्तमान युग टूटे हुए भावों और विभाजित आस्थाओं का युग है। (An age of a torn emotions and divided loyalties), कवि स्वीकार करता है—

"जड़ों से पंखुड़ियों तक
समय के अनुशासन में जब एक क्रांति होती है
नववृन्तों पर
फूल लिखने की कविता
पूरी होती है।"

(पृष्ठ १३ कविता में जीने का सुख)

किसी कवि की रचना की आलोचना कई ढंग से की जा सकती है। पहला ढंग है—कवि की रचना प्रक्रिया और उसकी संवेदना की प्रवृति को समझते हुए आलोचना करना। कवि जो कहना चाहता है उसे अपनी रचना में ईमानदारी से प्रस्तुत कर पाया है या नहीं ? दूसरा रूप है कविता के प्रतिमानों के माध्यम से समीक्षा करना। यह बहुत कठिन और विवादास्पद भी है। आलोचना के प्रतिमान विशेष रूप से कविता के, बहुत बदल गए हैं। किसी भी आलोचक ने अभी तक सार्वजनीन प्रतिमानों की सुलझी रूप रेखा प्रस्तुत नहीं की। अतः इस तरह की आलोचना विवादों के घेरे में घिर कर आलोचक सापेक्ष्य ही हो जाएगी। एक और दृष्टि है जिसके माध्यम से समाज के प्रति समीक्षक अपनी विशेष विचारधारा और राजनीति की प्रतिबद्ध दृष्टि से रचना की आलोचना करता है। इसमें आलोचक की नैतिक, धार्मिक मान्यताएँ उसकी अपनी विचारधारा से मेल खाती हैं। इस तरह की आलोचना में भी आरोपण का भय होता है। तटस्थ समीक्षा नहीं हो पाती। कवि को न जाने कितने झरने, नदी, नाले, बाधाओं को पार करना होता है तब कहीं वह जनता के समुद्र की धारा में अवगाहन कर पाता है, तभी वह जनता के मन स्पन्दनों में बस पाता है।

वास्तव में कविता का मूल स्रोत हमारे जीवन के अनुभव हैं, जिनका प्रभाव हमारी संवेदना पर पड़ता रहता है। परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण उनका स्वरूप भी बदलता रहता है। इस तथ्य की पुष्टि छविनाथ जी की कविता की विकास यात्रा से अच्छी तरह हो जाएगी।

छविनाथ जी वास्तविक कवि हैं। उनकी कविता में सहज रूप से शब्दों की ध्वनि, लय अनायास ही वर्तमान रहती है। कविता छन्द मुक्ति का यह अनायास सहज बन्धन उनकी रचना में बड़ा लुभावना होता है। प्रगीतात्मक तत्व कवि की छन्द मुक्त रचनाओं में भी मिलता है। सांकेतिक रूप से इन रचनाओं में अनुभूति के बिम्ब को प्रकट किया गया है।

"उनका लघु आकार, संक्षेप तथा आत्मनिवेदन उन्हें 'गीत' की परिभाषा के अन्तर्गत ही लाता है। यह आवश्यक नहीं है कि छन्दबद्धता, तुकान्त, रूपाकार में ही सम्भव हो सकता है।"

छविनाथ जी के गीत नगरीय संवेदना लेकर चले हैं। इसमें परिवर्तित मूल्य-बोध तथा बदले हुए परिवेश से उसे एक संगति, एक सार्थकता प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए—

"भीड़ पर रहम करो
भाषण कुछ कम करो

... .

किरण लिखो आँखों में
ओठों पर गन्ध लिखो
स्वस्तिवती सुबहों सी कोई सौगन्ध लिखो
संकट में रचना है
पैना कुछ क़लम करो
भाषण कुछ कम करो,"

परिवर्तित काव्य संवेदना के लिए कला में परिवर्तन भी आवश्यक होता है। हर कुशल कवि महत्वपूर्ण काव्य सम्बन्धी जड़ अवधारणा तोड़ता, मोड़ता या बदलता रहता है। "कविता में अर्थ-ग्रहण नहीं, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित है।" हृदय पर पड़े प्रभावों की मानस अभिव्यक्ति ही तो 'बिम्ब' है। कवि बड़ी कुशलता से मन पर पड़े प्रभावों को मन के मूल विचार या भाव के पास ले गए हैं। अपने बिम्बों द्वारा अगोचर भावों को मूर्तता और यथार्थ रूप प्रदान किया है। कुछ उदाहरण देखिए— शब्द-बिद्ध समय, एक मारीच गन्ध, सुनहली सुबह का संगीत, स्वयं निषाद चेतना में जीता हुआ, नन्हे बच्चे की दस्तक, सिमटते अन्तराल—'कविता में जीने का सुख' एक

पूर्ण बिम्ब की सटीक कविता है—आदिम चेतनाएँ किस तरह शिकारी की तरह हैं और आस्थाओं का शिकार कर मनुष्य को कष्ट दे रही हैं।

काव्य में वस्तुभाव की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति में बिम्ब विधान के लिए उपमा, रूपक, दृष्टान्त अलंकारों का आश्रय लेना पड़ता है। विश्व एक प्रकार से वस्तु लोक और भाव लोक का सेतु है। कवि उसी सम्पूर्ण सृष्टि के शब्द और अर्थ के संयोग से काव्य में बिम्बित करता है। वह बिम्ब को पाठक या श्रोता के हृदय में प्रेषणीयता के द्वारा पुनः प्रतिष्ठित करता है।

'पल्लव' की भूमिका में पंत ने लिखा है कि ''कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है।' निराला ने इसका और विस्तार अपने निबन्ध 'काव्य में रूप और अरूप' शीर्षक निबन्ध में किया है, ''हिन्दी के नवीन पद्य साहित्य में विराट् चित्रों के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं है, जितना छोटे-छोटे सुन्दर चित्रों की ओर है।'' मिश्रजी की कविता अन्तर्यात्रा में दिखाई देता है—''अंधेरे का रीछ। क्षितिज के उस पार। किसी बेनाम दरख्त पर चढ़ गया।'' ''इन बिम्बों के माध्यम से रचना में गतिमयता आती है। पर बिम्बों के अधिक प्रयोग से कविता में जटिलता आती है। यही कारण है कि अन्य कवियों की तरह मिश्रजी भी सीधे-सीधे वक्तव्य या कहीं कहीं सपाट बयानी पर भी उतर आए हैं—इसके उदाहरण उनकी 'कविता में जीने का सुख' की कई कविताओं में मिल जायेंगे, जहां वे संवाद शैली में रचते हैं—''दोस्तों,/गुस्से में आईना तोड़ना/कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। लेकिन आईना होना/ एक अलग बात है—''

कवि ने स्वीकार किया है कि रूप विधान (पृ० ३४) के सम्बन्ध में मान्यताएँ बदल गई हैं। कवि को जीवन में जो भी स्नेह-प्यार, और मानसिक यंत्रणा मिली है उसे प्रचलित प्रतीकों द्वारा अपनी रचनाओं में दिखाया है। प्रत्येक कवि का एक चरित्र होता है जिसे वह अपनी काव्य शैली में अभिव्यक्त करता है। जैसे प्रत्येक फूल की एक खुशबू उसकी पंखुड़ियों के विकसन की एक अदा होती है वैसे ही प्रत्येक कवि का अपना जीवन की समस्याओं पर सोचना और उसका प्रतिवाद करने का अलग नज़रिया होता है।

पिछले कई वर्षों से यह अनुभव किया जा रहा है कि प्रगतिशीलता का सामूहिक गान जन-संघर्ष की क्रान्ति, और गर्मजोशी की बातें पानी के बुलबुले के सदृश्य क्षण-भंगुर हो गई। यही कारण है कि कविता भाव की समृद्धि की ओर ही अधिक झुकी है। वह मानवीय अनुभूतियों को ही अधिक महत्व देने लगी है। कुछ वर्षों से संवेदना के स्तर पर प्रेम, त्याग, करुणा, समर्पण जैसी नैतिक भावनाएँ रचनाओं में आई हैं। खोखली आडम्बर नारेबाजी का रचनाकारों ने विरोध किया है। कहीं कहीं छविनाथजी भी परिस्थिति की असह्य वेदना को झेलते हुए तरह-तरह की

नारेबाजी आक्रोश में कर गए हैं—'और सुबह होते ही/तमाम चेहरे आईने में उतर जाते हैं। कुत्ते दहलीजों पर दुम हिलाते हैं, ऊँघते हैं। पोखर के गन्दले पानी में फँसा हुआ आकाश। कुछ और फँसता है। हवा में उड़ते हुए बहुत सारे अर्थ कहीं नहीं होते।' यह कवि का असहनीय आक्रोश है जो गाली के बजाय विद्रोह एवं व्यंग्यपूर्ण रचना में प्रगट हुआ है।

मिश्रजी के विरोध में थोड़ा शहीदाना अन्दाज़ भी मिलता है, और रोमानी तेवर भी। विद्रोह जब तक भावनामूलक रहेगा तब तक उसका शुद्ध-साहित्यिक महत्व रहेगा पर वह क्रान्ति या परिवर्तन नहीं ला सकता। थोड़ा उद्बोधन अवश्य करेगा। वैचारिक आधार और उसकी उग्रता विरोध के लिये आवश्यक है। कला द्वारा उसे साहित्यिक रूप देकर संयमित किया जा सकता है। हर बौद्धिक लेखक को किसी न किसी रूप में कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ता है। मुक्ति की कामना, पाखण्ड का खण्डन, समाज में फैले अन्याय-अत्याचार का विरोध, संघर्षशीलता और अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता—ये सारी प्रवृतियाँ ही कवि को विरोध की ओर प्रेरित करती हैं।

मिश्रजी की रचना बड़ी बेबाकी के साथ व्यक्ति तथा समाज के तनाव और विसंगतियों को प्रस्तुत करती है। पाठकों को पाखण्ड और झूठ का तीव्रता से एहसास कराती है। कुछ ऐसी प्रवृतियाँ हैं जिनका प्रत्येक बौद्धिक रचनाकार आमना-सामना करता है—वे हैं मुक्ति की कामना, आडम्बर का विरोध, अत्याचार-अन्याय का विरोध, संघर्षशीलता, मानव अधिकारों के प्रति सजगता, शोषण के खिलाफ आक्रोशकी अभिव्यक्ति जिससे अस्मिता की रक्षा हो सके। मिश्रजी की 'राम भरोसे पूरा देश' में इस भावना की पुष्टि होती है। "व्यर्थ विधान। और। आदेश। राम भरोसे पूरा देश।"

छविनाथजी मुख्यतया एक संवेदनशील भावुक कवि हैं। अपनी रचना यात्रा इन्होंने गीतों से आरम्भ की किन्तु बाद में संघर्ष के थपेड़ों से इनका आक्रोश निखरा है और खूब निखरा है। छन्द ज्ञान होने के कारण इनकी रचनाओं में स्वाभाविक लय, अर्थ, ध्वनि का संयोजन है। यह विशेषता उन्हें आधुनिक कवियों में एक विशेष स्थान देती है।

कवि ने आज की स्थितियों से सीधा साक्षात्कार किया है। वह समय का आईना बन गया है। कई जगह समस्याओं और प्रश्नों की भरमार है, विडम्बनाओं का दर्शनीय अम्बार है। कवि पीड़ा या गुबार निकाल कर अपनी मुक्ति तो नहीं चाहता बल्कि एक ईमानदार कवि होने के कारण समस्याओं का विश्लेषण भी करता है।—

"आदमी की मुक्ति - यात्रा
कविता में जीने की यात्रा है।"●

डॉ० शम्भुनाथ

कविता में सोचते हुए

अकविता से ही ग़ैर रोमान्टिक कविता की वास्तविक शुरुआत होती है, अन्यथा दावे के बावजूद नई कविता छायावादी तत्वों से मुक्त नहीं थी। पिछड़े समाज में अस्तित्वबोध, क्षणानुभूति या मानवीय विद्रोह अन्ततः एक रोमांस में बदल जाता है। इसलिये अकविता से पहले सभी काव्य धाराओं में रोमानी तत्व किसी न किसी हद तक मौजूद थे। इस परम्परा को यदि किन्हीं कवियों ने बिना किसी लाग-लपेट के तोड़ा तो वे अकविता के कवि थे। ये अपने समय की अमानवीय व्यवस्था के बिल्कुल आमने-

सामने थे। इनके लिये चीज़ों की चिकनी सतह खुरदरी हो चुकी थी और मानवीय सम्बन्धों की तार्किकता समाप्त हो चुकी थी। इनके लिए जीवन में कोई सकारात्मक तत्व नहीं बचा था जो आशा पैदा करे। सन् ६० के बाद पश्चिमी असर में और कुछ देश के आधुनिक वातावरण के दबाववश भी बुद्धिज़ीवियों ने गहरे अकेलेपन, निस्सहायता और विच्छिन्नता का अनुभव किया। वे किसी मूल्यबोध से नहीं, मूल्यहीनता के बोध से जुड़े हुए थे। राजकमल चौधरी और उनकी पीढ़ी के कवि—सभी भाषाओं में ऐसे कवि—इतना छाए हुए थे कि उस युग में अज्ञेय, नागार्जुन एवं शमशेर की काठी के कवि भी धुंधले पड़ गये थे। रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, धूमिल आदि ने रोमांटिसिज्म को अपने नये भाषिक मुहावरों से धूल चटा दी थी। महादेवी वर्मा तक महसूस करने लगी थीं 'कविता क्या, जीवन का छन्द ही टूट गया है'। अकवियों ने गीतों और लयात्मकता के खिलाफ़ जेहाद छेड़ रखा था। वे कविता के बुनियादी संरचनात्मक तत्वों के उच्छेद पर उतारू थे; क्योंकि जीवन के ही प्रति उनकी दृष्टि निषेधात्मक हो चुकी थी।

उसी ऐतिहासिक दौर में अपने मन पर रोमाँटिक प्रभाव रखने वाले कई कवि अकविता की उपरोक्त अत्याधुनिक प्रवृत्तियों की ओर आकृष्ट हुए। इनमें छविनाथ मिश्र एक महत्वपूर्ण नाम है। ग्रामीण पृष्ठभूमि के सरल और मधुर मन के इस कवि के लिए अपने प्रगीतात्मक भाव जगत का पूरी तरह अतिक्रमण कर पाना बेहद मुश्किल काम था। वह इसी ढंग से सोचने का आदी था, 'कँगन के स्वर उभरे सपने कुछ खनक गए' (१९६१), इन दिनों अच्छा नहीं लगता तुम्हारा रूठ जाना' (१९६५), और 'खेत से खलिहान तक पसरी दुई चैती फसल-सी/बाँस बन में टिक गई होगी कहीं कोई प्रतोक्षा' रोमांटिकता के तत्व हर उस कविता में होंगे, जो अपने समाज और लोकजीवन से थोड़ी बहुत जुड़ी होगी, क्योंकि पिछड़े सामंती समाज के दमनात्मक माहौल में प्रेम, सौन्दर्य और स्वच्छन्दता की मौन भूख स्वाभाविक है। अस्तित्ववादी असर में मानव जीवन का निराशा, निस्सहायता और निरर्थकता के चित्र उपस्थित करने वाली अकविता के लिए रोमांटिकता असह्य थी। तीव्र आधुनिकीकरण की नई पीली छाया में लोकजीवन से जुड़ो चैती फसल और बाँसवन अप्रांसंगिक थे। कलकत्ता महानगर के आधुनिक वातावरण में कवि के लोक संस्कार वाले मानस में अकविता का निषेधवादी तत्वों का असर बढ़ा। अत: उसने लिखा 'एक संकट से उबर कर एक संकट से घिरा सा/युग बहुत कुछ लग रहा है टूट कर औंधा गिरा सा'। यह एक भिन्न मिजाज़ था। आधुनिकतावाद अपने अंधड़ में बहुत कुछ पुराना उखाड़ता - नया जमाता हुआ एक नया परिदृश्य उपस्थित कर रहा था, जहाँ चीज़ों का कहीं कोई अर्थ नहीं था। आधुनिक जीवन गहरे सूनेपन और सन्नाटे में एक गहरी चीख़ सदृश था। लोकमानस के शहरीकरण ने अपरिचय और अजनबोपन बढ़ा दिया था—

जी रहे हैं हम हवा के स्तरों पर
आधुनिक मन का अपरिचय
और अपना ही विभाजन

किन्तु छविनाथ मिश्र अपने निषेधवादी आधुनिक रूपान्तरण के बावजूद अपनी पुरानी सरल और मधुर रोमांटिक दुनिया से अपने को अलग नहीं कर सके। इसके चलते उनकी कविता में व्यर्थताबोध के बावजूद, एक रोमांटिक आवर्पण हमेशा मौजूद है। कुछ भीतरी संस्कारों के दबाव और कुछ प्रगीतात्मकता के आग्रह की वजह से वह कवियों के बीच काफी अलग खड़े देखे जा सकते हैं, अँधेरे से गुज़रते हुए भी ऋतुओं, फूलों की गंध और रोटी के बारे में सोचते हुए। अकविता से उन्होंने अपनी कविता की मुख्य अन्तर्वस्तु ली और काव्य रूप गठित किया प्रगीतात्मक तत्वों से। इससे उनके कथ्य और रूप के बीच तनाव पैदा हो जाता है। शायद यही वजह है कि छविनाथ मिश्र अकवितावादी रुझानों के बावजूद अकवियों की कतार में शामिल नहीं किये गए। अकविता के दौर में विद्रोह केवल मानव जीवन के स्तर पर नहीं था, काव्य-संरचना के स्तर पर भी था। अपने को अकवि कहने वाले कवि एक बहुत व्यक्तिपरक और रूखी भाषा की ओर बढ़ रहे थे। अपने आग्रहों के कारण छविनाथ मिश्र ने उस नए भाव बोध की ओर अग्रसर होकर भी अपने को परम्परागत रोमांटिक संस्कारों से बचाने की चेष्टा जानबूझ कर नहीं की। यह अच्छा हुआ या बुरा, इस निर्णय में नहीं जाना है। लेकिन कहा जा सकता है कि प्रगीतात्मकता उनकी कविताओं को रूखी की जगह मृदुल बना रही थी। उनमें शुष्कता की जगह स्निग्ध सोंधापन भर रही थी। इससे युगबोध के स्तर पर थोड़ी क्षति हो भी रही हो तो काव्य के स्तर पर एक विश्वसनीयता ज़रूर पैदा हो रही थी, क्योंकि अकविता आन्दोलन किसी न किसी बिन्दु पर एक व्यापक आधुनिक वातावरण से उपजा होने के बावजूद अपनी देशी ज़मीन से कटा हुआ था। व्यर्थताबोध का रोमांस—निसन्देह भारतीय वातावरण में व्यर्थताबोध अन्ततः एक रोमांस ही था—छविनाथ मिश्र की कविता 'टुकड़ों में बँटा आकाश' (१९६७) में स्पष्ट दीखता है। एक ओर अँधेरे का बिम्ब है, जो उस युग की अमानवीय व्यवस्था का प्रतीक है जो अपरिचय, अजनबीपन, सूनेपन आदि की ओर ले जाता है। दूसरी ओर किरणें सुनहले चाकुओं के रूप में एक रोमांटिक आकार ले लेती हैं तथा व्यर्थताबोध का रोमांटिक अन्त, खण्डन प्रस्तुत कर देती हैं। छविनाथ मिश्र की विडम्बना यह है कि वह न रोमांटिसिज्म छोड़ पाते हैं और न व्यर्थताबोध से आगे बढ़ पाते हैं—

इस तरह धुँधला गयी है रौशनी की सतह
एक भी चेहरा उजागर नहीं होता
बड़ी तेज़ी से अँधेरा उग रहा है
पुतलियों में बन्द-सी हो गयी है हर सुबह

सामने परछाइयों के
सिलसिले ही सिलसिले और कितने नाम
जिन्हें सूरज रोज़ किरणों के
सुनहले चाकुओं से काट जाता है

अकविता धारा के कवियों के व्यवस्थाविरोध और निषेधवाद की दो स्पष्ट परिणतियाँ हैं—मुक्त सेक्स और अध्यात्म। मूल्यहीनता की निराशा कवियों को उपर्युक्त दो किनारों में से किसी एक पर टिका देती है। उन दिनों हिप्पी और बीट पीढ़ी का भी साहित्य पर बड़ा असर था। कई कवि देहवादी हो चुके थे—श्लीलता और अश्लीलता पर उन दिनों बड़ी बहस चली थी। नशे को एक जीवनदर्शन बनाया जा रहा था। इन सब का लक्ष्य था व्यर्थताबोध के उग्र स्वरूप को उजागर करना। इस बोध के कारण अराजकता स्वाभाविक थी। पुरानी व्यवस्था की जड़ता को तोड़ने के लिए अराजकता की रचनात्मक भूमिका रेखांकित की गई और यौन चित्रणों को दमनात्मक सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह घोषित किया गया। छविनाथ मिश्र अपनी भारतीय प्रकृति और लोकसंस्कारों के कारण इस ओर न बढ़कर अध्यात्म की ओर झुके। स्वाभाविक रूप से 'ऋचागीत' उसी की परिणति है। चरम व्यर्थताबोध अन्ततः देहगन्ध की ओर ही ले जाता है या अतीत के आकर्षणों की ओर। एलन गिन्सबर्ग लम्बे समय तक बनारस के घाटों पर घूमते रहे थे। पश्चिम के चरम उपयोगितावादी भौतिकवाद और औद्योगिक सभ्यता के विरुद्ध उनके विकल मन की यह आध्यात्मिक प्रक्रिया थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसे व्यक्ति किसी धर्म या धर्मानुष्ठान की ओर झुक रहे थे। वे यन्त्र सभ्यता से घबराकर इस ओर न बढ़कर भौतिकवाद से परे जीवन के दूसरे आयाम की तलाश में थे। छविनाथ मिश्र को स्त्री के देह-अंगों की जगह ऋषियों के वैदिक मंत्रों ने आकर्षित किया, जो उनके व्यर्थताबोध से पैदा हुए अन्धकार के दूसरे ध्रुव की खोज थी। इसी दबाव से वह ऋचागीत में कहते हैं—

अँधियारे से
उजियारे की ओर लगा दो नाव हमारी
बाहर-भीतर तम ही तम है
बुझी चेतना की चिनगारी

अकवितावादियों के लिए चेतना का निस्पंद होना एक ऊँचा मामला था, क्योंकि अस्तित्ववादियों की तरह उनकी नज़र में जीवन एक अभिशाप है और व्यर्थता भरा है। उनमें एक तरह का निहलिज़्म था। इसी अनुभव के लिए वे ड्रग्स लेते थे। छविनाथ मिश्र के काव्य की प्रगीतात्मकता ने उन्हें अकवितावादियों के कई अतिरेकों से बचाया और सम्मोहनों में जीते इस कवि को एक हद तक यथार्थ से भी जोड़कर रखा। ऐसा नहीं है कि प्रगीत यथार्थ विरोधी होते हैं। अनुभूति की तीव्रता और गहरी कल्पनाशीलता जैसे

तत्वों के बावजूद ये यथार्थ के सम्पर्क में हो सकते हैं। प्रसाद और निराला के प्रगीत यथार्थ विरोधी नहीं थे। पर ये भी सच है कि प्रसाद और निराला को कोई गीतकार नहीं कहता। बाद में गीतों में किन्हीं उद्देश्यों से कविता को सीमित करने की कोशिश हुई, गीत या प्रगीत यथार्थ से कटे। यही वजह है कि साहित्य में एक गीत विरोधी वैचारिक माहौल बन गया। ऐसे माहौल में भी छविनाथ मिश्र ने अपनी कविता के प्रगीतात्मक तत्वों को खोने से बचाया, जो साथ ही साथ उन बहुत सारे मानवीय तत्वों को बचाना था, जो अकविता के निषेधवादी अंधड़ में बेमानी करार दिए गए थे। कहना चाहिए, इसी प्रगीतात्मकता ने छविनाथ मिश्र की चेतना को बुझने से रोका, भले इसे अध्यात्म और यथार्थ के दो कभी न मिलने वाले सिरों को जोड़ने के काम में उलझा दिया।

छविनाथ मिश्र की कविता पर यथार्थ के पक्ष में प्रगीतात्मकता के अलावा दूसरा महत्वपूर्ण दबाव खुद उनके संघर्षशील जीवन का है। उन्होंने श्रम को हमेशा महत्व दिया, इसलिए रोटी का अर्थ जाना। उनकी दृष्टि में ईश्वर से भी बड़ी है कविता और कविता से भी बड़ी चीज़ है रोटी। वह कहते हैं—'कविता जब किसी के पक्ष में/या किसी के खिलाफ़/अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है/तब वह/ईश्वर से भी बड़ी होती है।'

अध्यात्म और तंत्र की ओर आकर्षित होकर भी उनकी मुख्य साधना भूमि कविता ही है। कविता जीवन की चीज़ों से पुराने स्थापित रिश्ते से अलग एक नया रिश्ता पैदा करती है, यह व्यक्ति को उसकी पूर्वधाराओं से उन्मुक्त करती है। इसलिए कविता लिखना और कविता पढ़ना अन्ततः सोचने की ही आन्तरिक प्रक्रिया है। जिस तरह आज जीवन के कई आन्तरिक मामले विघटित हो रहे हैं, कविता भी बढ़ते आर्थिक दबावों में मनुष्य के आन्तरिक संसार से बेदखल हो रही है—'कविता को तोड़ गया रोटी का छन्द-ज्ञान'। छविनाथ मिश्र स्पष्ट अनुभव करते हैं—'कविता में सोचते हुए/हर रोज दफ़्तर तक पहुंचने का रास्ता/तै करना कितना खतरनाक है'। उनकी अच्छी काव्य-पंक्तियाँ घर से दफ़्तर तक के इसी खतरनाक रास्ते पर बनी होंगी, जहाँ जीवन की चीज़ों से नया रिश्ता विकसित करने की भूख सबसे बलवती होती है। ख़तरे के रास्ते पर चलना सोचना है। सोचना ही ख़तरे के रास्ते पर चलना है। इसलिए कवि का मुख्य सन्देश है—

> उभरती कविता की हरी दूब
> एक साथ कई पालतू-दुधारू जानवर चर गए
> तब भी
> सोचना ज़रूरी है। ●

डॉ० इन्दु जोशी

छन्द पुरुष

कवि छविनाथ मिश्र को मैंने उनकी रचनाओं के अध्ययन से छन्द पुरुष के रूप में स्वीकारा है। वैदिक साहित्य में 'छन्द-पुरुष' शब्द का प्रयोग सूर्य के अर्थ में हुआ है। जिस प्रकार सूर्य के द्वारा अजस्र प्रकाश विकीरित होता है और उसके संस्पर्श से एक ताज़गी का, स्फूर्ति का संचार होता है उसी प्रकार कवि छविनाथ मिश्र की काव्य-कृतियों के मनन से एक नई आस्था, एक नई चेतना प्राप्त होती है। छठवें दशक के अधिकांश साहित्य ने हमारे शताब्दियों के मानवीय मूल्यों, इतिहास-बोध, भौगोलिक विशिष्टताओं एवं काव्य परम्पराओं को झकझोर दिया था जिसमें भारतीय जीवंत मूल्यों और जातीय परम्परा के उपयोगी तत्वों के अस्वीकार की प्रक्रिया प्रमुख थी। छविनाथ मिश्र ऐसी स्थिति में एक अदद कलम को हथियार के नाम पर लेकर राष्ट्रीय चिंतन और सामाजिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक रचनाधर्मिता के प्रश्न का उत्तर बनकर उपस्थित हुए।

'मेरे इर्द-गिर्द/खड़ी है हथियारों से लैस/लहूफ़रोशों की जमात दर जमात/ हथियारों के नाम पर है/सिर्फ़ एक अदद कलम'/कलम में अन्तर्निहित शक्ति की जो पहचान इन पंक्तियों में रेखांकित हैं उसको जानने से न केवल दिशाहारा साहित्यकर्मियों में एक सही दिशा का बोध जाग्रत हो सकता है वरन् देश की संस्कृति और जातीय मूल्यों के प्रति सकारात्मक दृष्टि भी उपलब्ध हो सकती है तथा युगबोध भी उजागर हो सकता है। कलम का सिपाही बनने से किसी कवि की काव्य प्रतिष्ठा को आंच नहीं लगती बल्कि युग-सापेक्ष परिस्थितियों में उसकी कार्य-क्षमता और साहसिक भूमिका का पता चलता है। कवि यदि ऐसा नहीं है उसे कवि कहलाने का गौरव भी नहीं मिलना चाहिये।

छविनाथ मिश्र क्रान्ति की ज़मीन पर खड़े होकर महानगरों में परिव्याप्त अनात्मीय संकट, यांत्रिक दवाबों से कुचली जिजीविषा, लोकतांत्रिकता में शोषित मनुष्य, निरर्थकता में चिपटी भौगोलिकता और सिकुड़ी ऐतिहासिकता का विरोध करते हैं। मनुष्य निरन्तर संघर्षों के आघातों को सहते हुए संवेदना रहित हो सकता है। जुल्म और अत्याचार, अन्याय और अपमान के शिकार मनुष्य की अस्मिता और चेतना एक शून्य स्थिति में खुद को ढकेल देती है। आखिर वह कौन सा ऐसा वर्ग है, कौन ऐसे लोग हैं, जो मनुष्य के खिलाफ़ षड़यन्त्र रचते हैं, उसकी क्रियाशीलता पर

अंकुश लगाकर मानव को मानव के गौरव से वंचित कर देते हैं ! यह प्रश्न हमें एक बार फिर परतन्त्र भारत की यातनाओं के दंश को ताज़ा कर देता है—

'ये कौन हैं सारे लोग/जो असंवेदनशीलता की खुरदुरी सतहों पर/हमारी खामोशी का लगातारपन/कुछ और ठोस बना देते हैं/हमारी खिड़कियों/और रोशनदानों से छनती हुई रोशनी तक को भी/नीलाम कर देते हैं/ये कौन हैं सारे लोग ?'

जैसे-जैसे खामोशी ठोस होती जाती है हमारा मानसिक और शारीरिक ह्रास भी बढ़ता जाता है। तब मनुष्य होने की क्या सार्थकता है ? इसका अनुमान कर हम क्यों न अपने दायित्व-बोध को समझें और आततायियों के प्रतिरोध के लिये बुलन्द आवाज़ पैदा कर ऐसे लोगों में दहशत उत्पन्न कर दें !

कवि की कविता-यात्रा अँधेरे से उजाले की यात्रा है। निराशावादी चेतना कभी भी सजग चेतना नहीं हो सकती क्योंकि उसे संघर्ष के मूल रहस्य का ज्ञान नहीं रहता। आशावादी वही हो सकता है जो दुर्बोध से दुर्बोध क्षणों में आत्म जागरित सजगता को दुर्बल नहीं होने देता। वह इस गूढ़ रहस्य के प्रति सचेत रहता है कि अन्धकार को पराजित करने से ही प्रकाश से साक्षात्कार सम्भव है। सूर्य भी अँधेरे से जूझता है तभी संसार को एक नई सुबह दे पाता है। जीवन में मिले आपदाओं-यातनाओं के प्रहारों से जूझकर, जुझारू जीवन की कठोरतम घड़ियों का अडिगता से मुकाबला कर, अन्तस् को झकझोर देने वाले कष्टप्रद हलाहल के घूँट को पीकर, विपरीत स्थितियों में भी अपना मार्ग तय कर, विकास को जीवन का एक अपरिहार्य अंग समझने के समर्थक कवि हैं छविनाथ मिश्र। काल के प्रवाह उलांघती कविता की अन्तश्चेतना का स्मरण कर वे अपने समानधर्मा कवियों से कहते हैं—

'सूर्य उसका छन्द-पुरुष था/और आकाश उसका पिता था/हमारी दहलीज़ों पर ऋचाओं का पहरा था/ मंत्रविद्ध समय/कभी नहीं आग का मोहताज था/अँधेरे के खिलाफ़/हमने पहली बार आवाज़ बुलन्द की थी।'

किन्तु आज कवि की अन्तश्चेतना में यह आग निष्कम्प है, बुझी पड़ी है। यह निश्चय ही एक विचारणीय प्रश्न है—

''एक समय/यह भी है/आज आग हमारे इर्द-गिर्द निष्कम्प है—बुझी है/हम उसे हवा में एक लम्बी भीड़ पर/उछाल कर/साबित करना चाहते हैं/यह आग दिखावटी है/

कवि का प्रयोजन नयी जानकारियों के मध्य अपनी संस्कृति के उस पक्ष को उद्घाटित करना है जिसके ताप में उत्तेजना थी, निर्माण का ओज था, जिसका प्रभाव बहुत ही गहरा पड़ता था। आज एक बार फिर उसी ताप की आवश्यकता है। यह आग तो हमारी शिराओं में प्रवाहित है। केवल हमें यह देखना चाहिये कि शब्दों के भीतर सोई इस आग को कैसे भाषा के ज़रिये हवा दी जा सकती है ! इसका अभिप्राय यह नहीं कि छविनाथ मिश्र हमारी पुरातन प्रवृत्ति का अनुकरण करते हैं, या उसकी पुनर्स्थापना

के लिये सचेष्ट हैं। दरअसल वह सकारात्मक संस्कृति के पुजारी हैं। कविता को समग्र रूप से समर्पित हैं। कविता की संस्कृति नये उपकरण से संयुक्त कर विकासोन्मुख करना ही उनका अभीष्ट है। वह इसे ऊर्ध्वमुखी स्वरूप देने के पक्षधर हैं—

मुझे जीना है/रोटी और कविता के बीच दबोची हुई/अपनी रचना के इकलौते आकाश की सुरक्षा के लिये/मुझे लड़ना है/एड़ी से चोटी तक उगते हुए/खून और पसीने के लिये/और आग जो अबतक अनलिखी है/

कवि अपने लिये नहीं औरों के लिये भी लड़ने के लिये प्रतिबद्ध है। वास्तव में वह जिस अनलिखी आग को प्रज्ज्वलित करने के लिए सन्नद्ध है उससे हमारा बहुलांश भिज्ञ होते हुए भी अनभिज्ञता का स्वाँग भर रहा है या उसके भार को अपने कंधों पर उठाने में अक्षम है। मनुष्य के भीतर शाश्वत जिजीविषा होती है। जीवन की शाश्वत जिजीविषा के अडिग विश्वासी कवि कहते हैं।

'एक बार फिर तुम कोई नया संकेत दो/मैं जीवन को नए सिरे से रोप रहा हूँ'।

छविनाथ मिश्र ने कविता के साथ गीत भी रचे हैं। जिन लोगों ने छविनाथ मिश्र के पूरे साहित्य को पढ़ा है, वे जानते हैं कि जिस शक्ति और सामर्थ्य से उन्होंने कविता को सही अर्थवत्ता दी या नई कविता का सृजन किया है उसी अनुपात में उन्होंने गीत, नवगीत और लोकगीत भी लिखे हैं। देखा जाय तो गीत उनकी रागात्मक चेतना के आईने हैं जिनमें एक ओर प्रकृति से लेकर प्रिया तक के विविध मोहक रंग और सम्मोहक संवेग प्रतिभासित होते हैं वहीं देश और काल की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ भी यथार्थ के तीखे बोध में अंकित है। साथ ही व्यावसायिक सभ्यता और सत्तोन्मुखी राजनीतिक चतुरता की कुटिलताओं को वे बेबाक भाषा में चित्रित करते हैं :

ज़हरीली गैसों ने मिट्टी की सांस चुगी/खेतों को सूँघ लिया बारूदी बोध ने/
पौधों की जगह कहीं/उर्वर विस्तारों में लाशों पर लाश उगी/

अथवा

गांवों से नगरों तक भूख से निढाल। उगती है भीड़ सिर्फ़ पेट का सवाल।

सत्तासीन तथाकथित लोकनायक जो समाज की आस्था का प्रकाश स्तम्भ बनने का दम भरते हैं किस प्रकार अपने घिनौने आचरण से जन-समाज के मन में अवस्थित आदर्शों और सिद्धान्तों को चकनाचूर कर रहे हैं यह उनके गीतों में कविता के समानान्तर ही अभिनव बिम्बों में मुखरित होता है।

इनकी कविता को भाषिक संरचना पर दृष्टिपात करें तो वह भी अनुपम और विलक्षण है। कवि के बिम्ब-विधान और उपमाओं में नये प्रयोग का निर्वाह मिलता है। विशेषण-प्रयोग में भी वे बेजोड़ हैं।

अस्तु उनकी रचना-धर्मिता के अध्ययन से यही निष्कर्ष मिलता है कि आगत मनुष्य की सम्भावनाओं को उर्वर और विकसित करने के लिये छविनाथ मिश्र का 'छन्द-पुरुष' निरन्तर रचनाकारों और बुद्धिजीवियों का आह्वान करता है—

कलमों से तोड़ें हम अनलिखे अँधेरे को/सुबह के सिवानों में धूप, धान रोप दें/रोशनी उगाने की भाषा छितरा दें हम/छन्दों को प्यार-भरा आसमान सौंप दें। ●

सं घ र्ष

गुलाब सिंह

ऋषि कल्प जीवन की अनुगूंज

गांव के नन्हें-मुन्नों से लेकर बड़े बूढ़ों तक के लिए थीं एक 'दादी'। छोटा कद। गोरा रंग। निरक्षर। लेकिन अपने सम्बोधन से जुड़े दायित्व की पूरी समझ। 'बड़का' 'छोटका' 'दुलहन' ,नाती' 'बिट्टो' 'बबना'—उनके लिए जितने भी रिश्ते थे, सब 'दादी' के वयोवार्धक्य से बँधे थे। जो उम्र में उनसे काफी बड़े थे, उनके लिये वे 'ददिया' थीं, ठीक उसी तर्ज पर जैसे बेटी, बिटिया हो जाती है। उनका सम्बोधन इतना सर्वस्वीकृत था कि एक रिश्ता, एक पारिवारिक पद, परिवार और घर की सीमाएँ लांघकर आस-पास के गांवों के परिचितों तक के लिए व्यक्तिवाचक संज्ञा बन गया था।

अपने मामा के घर पर जब मैने होश संभाला तो पाया कि 'दादी' हमारी निकटतम पड़ोसिन हैं, बल्कि यह तो कुछ बड़े होने पर समझ में आया कि वे पड़ोसिन हैं। पहले तो यही लगता रहा कि वे भी इसी घर की हैं। आस-पास के अन्य घरों के छोटे बच्चों को भी इसी तरह का एहसास था कि दादी उन्हीं के घर की हैं। घर-घर की हमदर्द दादी का अपना भी एक घर था।

गांव का नाम है ऊँचडीह। नाम के उत्तरार्द्ध के डीह शब्द का अर्थ है— प्राचीन खण्डहरों के विलय से बना ऊँचा स्थान—डूह या डीह। दादी का घर गांव के सबसे ऊँचे स्थान पर था और घर के आस-पास बहुतायत से बिखरे खपरैलों के छोटे-छोटे टुकड़े उसकी डीहता को प्रमाणित करते थे।

ऊँचडीह गांव में सबसे ऊँचे डीह पर बना दादी का घर बस्ती के इतिहास और भूगोल के एक बिन्दु की तरह था। इस घर में सिर्फ एक कमरा था, जिसका दरवाजा इतना छोटा था कि उसमें बैठकर ही प्रवेश संभव था। यह इसलिए था कि बड़े दरवाजे की नाप के किवाड़ लगाना दादी के वश के बाहर था। लगता था, जैसे किसी ने अपने खिड़की के पल्ले दादी को दान कर दिए थे और दादी के घर को एक दरवाजा नसीब हो गया था। उस कमरे पर एक ऊँची अँटारी थी। बिलकुल खुली और हवादार। डीह पर बने होने के कारण यह छोटा-सा घर सबसे ऊँचा भी था। बाहर से दीवारें छंट गयी थीं और पुरानी भीत में छोटे-छोटे कंकड़ और खपरैलों के टुकड़े उभर कर उसे खुरदुरा बना रखे थे। दादी के हाथ भी उसी तरह खुरदुरे थे। खाली खुरदुरे हाथों से चिकने घर की कोई संभावना नहीं बनती थी।

इस छोटे खुरदुरे फिर भी ऊँचे घर की खपरैलों के नीचे दादी के दोनों आँखों की चमक की तरह थे—'छब्बर' और 'शोभा'। छविनाथ और शोभनाथ।

आज 'ऋचा गीत' के प्रणेता 'ऋषि परम्परा के मशाल वाहक' कवि छविनाथ मिश्र और ऊँचडीह के उस घर के बीच फैली दादी की स्मृतियां सचमुच हमें कण्व और वाल्मीकि के आश्रमों तक ले जा रही हैं, जहां भरत और लव-कुश पले थे। यह भी अजब संयोग था कि बड़े होने पर छविनाथ ने रामनगर की रामलीला में कई वर्षों तक राम का अभिनय किया।

'छब्बर' नाम झब्बर से जुड़ा था। झब्बर वही हो सकता था जिसके सिर पर लम्बे घने घुंघराले केश हों। इतने घने और इतने घुंघराले कि माथे पर हमेशा डिठौना लगाना पड़े। बड़ी-बड़ी आंखें और गेहुँए सुडौल चेहरे पर प्रकृति ने भी डिठौना लगाया था, उनकी नाक पर एक काले तिल के रूप में। तरुण छविनाथ और किशोर शोभनाथ की जोड़ी के साथ, एक अँधेरे कमरे वाले उस घर की संगति किसी तरह नहीं बैठती थी। उस विपन्न और आकाशवृत्ति वाली स्थिति में भी दादी की आँचल की छाया का ही वैभव था, जिसमें सचमुच तेजस्वी ऋषिकुमारों की तरह सुन्दर स्वस्थ यह जोड़ी थी।

एक बार गाँव के प्राइमरी स्कूल के पंडितजी ने दो दिन स्कूल न जाने के कारण मेरे कान गरम किए। कनपटी लाल हो गई। घर लौटने पर देखते ही दादी आग बबूला हो गईं। मेरी बाँह पकड़े ताबड़तोड़ स्कूल में पहुँच गईं। पंडितजी को

ऐसी फटकार बताई कि उनकी घिग्घी बँध गई। 'छोटा-सा बच्चा, ऐसी निर्दयता, आपके बाल-बच्चे नहीं हैं क्या ?' बच्चे दादी के लिए सर्वस्व थे। अपने बच्चों को किस लाड़-प्यार से उन्होंने पाला होगा, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

दादी के घर के अगवारे और पिछवारे शिवचरण और बलदेव उर्फ बल्दी के मकान थे। ये दोनों सगे भाई अलग-अलग दो घरों में दो एकान्तों की तरह रहते थे। शिवचरण नहीं रहे, उनका मकान भी डीह में तब्दील हो गया। बल्दी अब भी हैं। जवानी के दिनों में टटुए की नंगी पीठ पर उसके अयाल थामे बल्दी एक हाथ में बरछा लेकर किसी छत्रपति के मूड में, उसके मुनादीकर्त्ता की भूमिका भी खुद निभाते हुए निकलते—'ब से बल, ब से बरछा, ब से बल्दी, ब से बरबाद कर देंगे'—इस उद्घोष का संकेत हवा में, हवा की ही तरह अदृश्य दुश्मनों के लिए होता, पर कवि हृदय छविनाथ मिश्र इस आनुप्रासिकता और बछेड़े पर सवार बमकते बल्दी के कल्पना प्रवण बल के इस दृश्य को देखकर उन्मुक्त अट्टहास करते।

शिवचरण देवी के भक्त थे। उनकी कुटिया से 'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' का मन्त्रोचार अथवा 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी' का सस्वर पाठ अक्सर सुनाई पड़ता। उन्होंने द्विरागमन के बाद ही पत्नी को उसके मायके पहुँचा कर सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था। परम अकेले रहते हुए नारी के प्रति आग्नेय दृष्टि रखते थे।

'कभी-कभी सोचता हूँ और इधर तो चार-पांच दिनों से लगातार सोच रहा हूँ कि आखिर संसार में इतनी अशांति क्यों है, इतना विरोध क्यों है, इस तरह लोग क्यों अलग-अलग, दूर-दूर अजनबी जैसे हैं ? तो अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सब की जड़ में औरत है।' —छविनाथ मिश्र के इस कथन से स्व. चन्द्रमौलि उपाध्याय ने 'त्रिकोण' (१९६३) में प्रकाशित अपने लेख की शुरुआत की है।

किशोरावस्था के कई वर्षों तक छविनाथ के निश्छल और प्राय: अनुभवहीन हृदय ने शिवचरण के नारी सम्बन्धी निष्कर्षों को अनजाने ही ध्यान से सुना था। कौन जाने ४० की उम्र तक अपने नितान्त अव्यवस्थित जीवन में उनके अनुभवों ने सुने गए को गुने गए के घाट पहुँचाया हो !

गोकि 'धनुषाकार होकर हृदय रेखा की ओर मुड़ी' 'चिरकुमार' रहने की सूचक उनकी विवाह रेखा अब बदल गई है। रेखायें तो बदलती बिगड़ती रहती हैं। बेरहम वक्त जब मेहरबान होता है तो धुंधली रेखा ज्योति-किरण बनकर 'भाग्य और पुरुषार्थ' दोनों को प्रकाशित कर देती है। हिन्दी की नई कवयित्री आशा अंशु के साथ दाम्पत्य-सूत्र में बँधने के बाद 'स्वस्थ प्रसन्न रहने' की मनःस्थिति से जुड़े मिश्र जी

अब 'पतिदेव' होने के सौभाग्य से आगे बढ़कर 'पिताश्री' की उपाधि से विभूषित हो गये है। 'सारी अशान्ति' की जड़ में रहने वाली औरत' शांति का आधार भी है, उनके अनुभव में यह दूसरा अध्याय काफी बाद में जुड़ा है।

दादी के दरवाजे के ठीक सामने पीपल का एक विशाल वृक्ष है। अब दादी और उनका प्यार नहीं है, लेकिन अश्वत्थ अब भी है। दाईं तरफ दूर झलकते मंदिर, सूर्य और पीपल को, बिना पाट या चौड़े पाट वाली सफेद साड़ी के आंचल से प्रणाम करने वाली दादी मुझे कभी नहीं भूलतीं। इसी बिम्ब से प्रेरित होकर मैंने अपने संग्रह की भूमिका में लिखा है—'ग्राम देवता की प्रस्तर प्रतिमा के ऊपर फैले सघन पीपल के परकोटे पर पंख फड़फड़ाते बगुले सफेद फरहरे की तरह हवा में लहराते हैं। इस हरे मन्दिर के सामने की झोपड़ी से निकलतीं श्वेत वसना दादी अपने झुर्रियों-भरे चेहरे पर स्थितप्रज्ञता बिखेरतीं, सूरज-संध्या शिवाले और पीपल को एक साथ प्रणाम करते हुए, साक्षात निर्वेद हो जाती हैं।"

दादी माँ, भाभी, बहन, भाई, अड़ोस-पड़ोस के रिश्तों-नातों 'माटी-घाटी अन्तर और अधर की धड़कन, सब को पूरे मन से जीने वाली लेखनी से ही निकल सकता है—

"धुँधले क्षण भीगे सपनों से सुधि का आँगन भर जाते हैं,
हरसिंगार के फूलों जैसे फूल नयन से झर जाते हैं।
साँस-साँस के लेन-देन की चंदन गंधी बीती वेला,
उभर-उभर आती है बरबस बासी गीत निखर जाते हैं।"

(अंगना फूले कचनार, पृष्ठ छः)

लाल बहादुर सिंह चंदेल का घर छविनाथ जी के घर के पश्चिम तरफ है। छविनाथ इनको अपना अग्रज, संरक्षक और अभिन्न मानते हैं। फाग, बेलवरिया कजली और चैता लिखने वाले लाल बहादुर सिंह एक सहृदय और ऊँची समझ के व्यक्ति रहे हैं। कलकत्ते से गाँव आने पर, छविनाथ जी भी गाँव वालों के आग्रह पर फाग और बेलवरिया लिख देते। लोग बड़ी आत्मीयता और आदर से उन्हें गाते। औरतों के लिए कजली भी लिख देते—

अब त हुइ गवा सुराज, हुइ गा जनता क राज
साज धानी रंग चुनरिया रंगाइ दे बलमू।
कहि द रंगइ रंगरेज, भागे सब अंगरेज
तेज रंग से तिरंगा छपवाइ द बलमू।
छापे गांधी औ पटेल, नेता सिंगापुर के जेल
हमरे अँचरा पर नेहरू लिखाइ द बलमू!

दादी की ममता, गांव के खेत-खलिहान, अमराई, सीवान, सरसों, पास-पड़ोस—यानी बस्ती का मिजाज, शिवचरण का राजस अध्यात्म, लाल बहादुर सिंह का कवित्व—इन सबसे जो भी माहौल बनता था, उसी में छविनाथ जी का बाल और किशोर मन विकसित हुआ था।

तरुण होते ही उन्हें मां के खुरदुरे खाली हाथ, छूंटी दीवारों वाला एक कमरे का अपना घर, उसके भीतर का अँधेरा साफ दिखा और वे गांव से पांच सौ मील दूर कलकत्ता चले गये।

कलकत्ते से जब-जब वे गांव लौटते, अगर हर बार कैमरे से तस्वीर खींची जाती तो उनका एक ही 'पोज' या एक ही मुद्रा उतरती—लकदक ढीली धोती, कलाई पर बटन लगा कुर्ता, जब-तब उस पर सदरी, पतले फ्रेम का चश्मा, उल्टे कढ़े लहरदार केश, पान रचे ओठों पर हल्की मुस्कान। न कोई ग़म न कोई गिला। दोनों कंधों से लटकते दो झोले, दोनों में हिन्दी, बंगला, उर्दू, अंग्रेजी की पत्रिकाएं और किताबें। गरी के चार-छः गोले। इत्र की दो एक शीशियां—बस।

घर-गाँव से लगा हुआ ऊँचडीह बाजार। घर से निकल कर जब तक वे बाजार में रहते, चाय-पान के दो-चार तलबगारों से घिरे रहते। सब को चाय-पान हँसी-खुशी का सुख बाँट कर घर लौटते तो फ़िर चारों ओर बिखरी-फ़ैली किताबों और पत्रिकाओं के बीच खो जाते। बाजार में उनकी उपस्थिति में परिचित मंडली के अन्य किसी व्यक्ति को अपनी जेब में हाथ नहीं डालना पड़ता था। इतने खुले हाथों से चलने वाले बजट के दीवाला पिटने के दो-एक दिन पूर्व अचानक उनके कलकत्ता जाने की तैयारी हो जाती। पत्रिकाओं-किताबों से भरे झोले फिर उसी तरह कंधों से लटक जाते। गरी के गोलों की जगह सफर का नाश्ता ले लेता। वैसे ही निस्संग निर्विकार जैसे कलकत्ता नहीं गाँव के बाजार तक ही जा रहे हैं।

१९५७ में लाला रामलाल कालेज सिरना का रजत जयंती समारोह मनाया जा रहा था। मुख्य अतिथि थे श्री के० एम० मुंशी, तत्कालीन राज्यपाल, उत्तरप्रदेश। समारोह के सिलसिले में एक कवि सम्मेलन आयोजित था। श्रीमती महादेवी वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री बालकृष्ण राव, श्री राजनारायण बिसारिया दुष्यन्तकुमार आदि अनेक कवि उपस्थित थे। छविनाथ जी कलकत्ते से ऊँचडीह आए हुए थे और इस कवि सम्मेलन में आमंत्रित थे। हिन्दी अध्यापक डॉ० कृष्णकांत पांडेय के वे चहेते कवि थे। कवि के रूप में अब तक वे कलकत्ता तथा पटना में जितने प्रसिद्ध थे, उसका चतुर्थांश भी यहाँ नहीं जाने जाते थे, फिर भी जब उन्होंने रचनायें पढ़ीं तो वाह-वाह की धूम मच गई। बड़े कवियों ने भी उनकी प्रशंसा की। एक गीत की दो-एक पंक्तियां इस तरह थीं—

आज पहाड़ी पर पहने चूनरी सुनहरी आना,
उस पर ओढ़े संगिनि चादर हरी-हरी आना।
तुम नील सरोवर के झुरमुट से तरी-तरी आना।

प्रेम-सन्दर्भों को लेकर लिखे जाने वाले उस समय के गीतों के बीच उनके गीतों की भाषा और शब्द योजना में एक नवीनता और ताजगी थी।

परम्परागत गीतों की सड़क से हटकर एक नई राह बनाने की ललक प्रारम्भ से ही उनमें थी। १९६२ में प्रकाशित उनके प्रथम काव्य संग्रह 'अँगना फूले कचनार' के गीत उनका 'राहों का अन्वेषी' होना प्रमाणित करते हैं।

आज की कोरी औपचारिकताओं और लाठी-बन्दूक वाली संस्कृति के बीच से वे मानदण्ड विदा हो गए हैं, जिनके चलते इण्टर पास को भी विश्वविद्यालय का विभागाध्यक्ष बनाया जाता था। समाज और राष्ट्र उस पर गर्व करता था। डिग्री नहीं विद्वत्ता पूज्य थी। मिडिल पास छविनाथजी को ढंग की कोई नौकरी नहीं मिल सकी। कलकत्ते में भी वही एक कमरे का काठ मकान नसीब हुआ, जिससे थोड़ी दूर पर ही जीवन का 'अंतिम यात्रापथ' 'साँस का आखिरी पड़ाव' था। जब भी उन्होंने अपनी पूरी शक्ल देखनी चाही 'हाथ से गिरकर दर्पण टूट गया' और 'टुकड़ों में बँटा आकाश' बिखर गया। लेकिन 'मुट्ठी भर माटी' और 'अँजुरी भर आकाश' की पूँजी पर कविता की जो कलम उन्होंने रोपी थी, उसके वृन्त पर 'ऋचागीत' जैसा पुष्प खिलकर आश्वस्त करता है कि रचनात्मक ऊर्जा से परिपूर्ण प्रतिभा अपने हाड़-मांस को 'गला जला कर', अपने रक्त से सींचकर जो पल्लवित पृथ्वी हमें सौंपती है, उसी से उत्फुल्ल जीवन की सुगन्ध फैलती है।

कलकत्ते से खबर आई कि छविनाथजी पागल हो गए हैं और पागलखाने में हैं। 'गंगा से जमुनवाँ की धार, नयनों से नीर बहे'—इस पंक्ति का मार्मिक प्रवाह लोगों ने दादी की आँखों में देखा। स्वजनों में चिन्ता और आकुलता फैल गई। आषाढ़-सावन का महीना था। हवा में भटकते किसी बादल की तरह करुणा और पीड़ा की एक बरसात लिए छविनाथजी गाँव आये। 'पागलखाने की सैर' के बाद जन्म-भूमि लौटे 'पागल जी' को देखकर हर परिचित अवसाद में डूब गया। उनके 'मेचक कुंचित केश' 'अंश अवलम्बित' कृष्ण लटें अदृश्य थीं। घुटे सिर के नीचे अनन्त चिन्तन की गहनता में डूबी वही बड़ी-बड़ी चमकीली आंखें फिर भी ढाढ़स बँधाती थीं।

लोगों ने अनुमान लगा लिया कि अत्यधिक अध्ययन-चिन्तन से वे विक्षिप्तावस्था को प्राप्त हो गए थे। खुले आसमान के नीचे धान के खेतों-मेड़ों पर भटकते-भींगते हुए धीरे-धीरे वे सामान्य हुए।

उनका जीवन एक ऋषि के जीवन के समान रहा है। साधन-विहीन किन्तु सम्पन्न। बाहर की साधन विहीनता, अन्दर की सम्पन्नता से जुड़कर एक और 'निराला' गढ़ रही थी। फर्क यह पड़ गया कि सूर्यकांत बाद में विक्षिप्त हुए, छविनाथ पहले ही। सूर्यकुमार तेवारी से सूर्यकांत त्रिपाठी और छब्बर से छविनाथ मिश्र बनने में फकीरी जिन्दगी और नवाबीमन की टकराहट का पूरा प्रभाव है। दोनों के जीवन में बंगाल (महिषादल और कलकत्ता) और बंगला का महत्वपूर्ण स्थान है। जिन लोगों ने गीतिका से लेकर बेला और नये पत्ते तक के गीतों को देखा है, उन्हें 'अँगना फूले कचनार' से 'टुकड़ों में बँटा आकाश' तक की छान्दसिक रचनाओं को भी देखना चाहिए। जिन्हें 'राम की शक्तिपूजा' के महाकाव्यत्व की प्रतीति है, उन्हें 'ऋचागीत' का भी अवलोकन करना चाहिए। आर्थिक तंगी में 'निराला' अपने उपन्यासों की पाण्डुलिपियां पानी के भाव बेच देते थे। बँगला से हिन्दी में किए गए अनुवादों के साथ छविनाथजी को भी वही करना पड़ता है। 'निराला' और छविनाथ मिश्र में एक वृक्ष दूसरा शाखा के रूप में भी दिखे तो समझना चाहिये कि हरेपन की परम्परा और फूल-फल की आकांक्षा जीवित है।

चाहे निराला या कि छविनाथ का पागलपन हो या 'प्रसाद', मुक्तिबोध, साही, सर्वेश्वर, उमाकांत मालवीय और धूमिल का असमय प्रस्थान—सिद्ध करता है कि उत्कृष्ट सृजन बलि तो माँगता ही है।

छविनाथ मिश्र साठ वर्ष के हो गए। 'अँगना फूले कचनार' और 'समय दंश' के बाद इधर उनकी तीन पुस्तकें लगभग साथ ही प्रकाशित हुई हैं—'कविता में जीने का सुख', 'टुकड़ों में बँटा आकाश' और 'ऋचा गीत'। षष्टिपूर्ति के अवसर पर तरुण कवि-पत्रकार संजय बिन्नानी ने कामना की है कि ऐसे मनस्वी और रचनाशील व्यक्तित्व को समाज अवसर प्रदान करे कि वह और अधिक रच सके।

पिछले दिनों ऊँचडीह गया तो 'समाज' की मेहरबानी का एक दृश्य देखा। छविनाथजी का घर तो कब का डीह बन चुका था। इस बार वह स्थान समतल सपाट दिखा और उस पर किसी के मवेशी बँधे थे। संयोग से वहीं पहुंचकर मैंने साथ-साथ चल रहे लालबहादुर सिंह चंदेल से कहा—छविनाथ जी की कभी कभार चिट्ठी आती है तो उसमें आपकी चर्चा ज़रूर रहती है। पचहत्तर वर्षीय लाल बहादुर रुक गए। मोटे फ्रेम के चश्मे को ऊपर सरका कर क्षितिज की ओर देखा—छविनाथ…………। उनकी आँखों में पानी की झिल्ली फैल गई थी और चेहरा आत्मीय स्मृति से खिल गया था—'छविनाथ की किताबों में लिखा होगा कि वे ऊँचडीह में पैदा हुए, लेकिन ऊँचडीह ने क्या किया ?' उन्होंने अपना हाथ उस स्थान की ओर उठाया, जहाँ कभी छविनाथ जी का घर हुआ करता था। ●

बृहत् ज्योति के प्यासे

जिस कवि की यह प्रतीति है कि कविता ईश्वर से बड़ी दीखती है जब वह अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है उसके लिये अपनी प्रातिभ ऊर्जा के बल पर आकाश को अँजुरी में भर लेना और मुट्ठी भर माटी से ब्रह्माण्ड जैसी विराट सृष्टि खड़ा करना कठिन नहीं होता। बन्धुवर पं० छविनाथ मिश्र जैसे अध्यात्म-संस्कार वाले व्यक्ति को कविता की महत्ता जब ईश्वर से ऊँची दिखाई पड़ती है तो वह उनकी परा आस्था की शिथिलता का संकेत नहीं है, मगर जो उनकी भागवत निष्ठा से

करीब से परिचित हैं वे छविनाथजी की उद्भावना के ऊपरी प्रभाव से चौंकते हैं, और वे अगरा उठते हैं जो न ईश्वर का अर्थ समझते हैं और न जिनका कविता से सजातीय रिश्ता है। उनके उल्लास का कारण उनका यह भ्रम है कि छविनाथजी की प्रतिभा खुदा को लाठी मार रही है और बिना नेवता के ही एक समर्थ कवि हमारे गिरोह को समृद्ध करने को प्रस्तुत हो गया है। बात सिर्फ इतनी है कि भारतीय मनीषा ने स्रष्टा की तुलना में सृष्टि की महत्ता को कभी न्यून कर नहीं देखा है, उसी पुरातन भारतीय धारणा को छविनाथजी समर्थ तरीके से अपनी कविता में प्रस्तुत करते हैं जो उनकी पुष्ट अभिज्ञता और प्रातिभ क्षमता को द्योतित करता है। वाल्मीकि से लेकर छविनाथ मिश्र तक कवि कुल की सारी प्रतिभाएँ वृहतज्योति के संधान में चेतना के शिखरों और उच्चतर सोपानों पर धावन करती रही हैं।

छविनाथ जी की चेतना-यात्रा की ऊर्ध्वमुखी मुद्रा से दृष्टि हटाकर जब उनके सहज मानुष रूप को हम देखते हैं, और अधिकतर उसे ही देख पाते हैं क्योंकि कविता के बीच से उठने वाली सूक्ष्म परा चेतना को पकड़ पाना सबके लिये सब समय सम्भव नहीं होता तो स्रष्टा और सृष्टि में संगति बैठा पाना सचमुच बड़ा कठिन होता है। छविनाथजी के व्यक्तित्व में ऐसा कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता जो यह संकेत दे सके कि उनका मानस वृहत् ज्योति की व्याकुल स्पृहा से तड़पता रहता है।

पोथी मोह के चलते सुन्दर से सुन्दर झोले को छविनाथजी कुरूप बना देते हैं। कई-कई मोटी पुस्तकों और कविता से भरी डायरियों से उनका झोला भरा रहता है जिसे कुर्त्ता-पाजामा की तरह वे बराबर अपने साथ रखते हैं। आश्चर्य होता है कि जिस बोझा को देखकर मैं थक जाता हूं उसे छविनाथजी बराबर कैसे ढोते रहते हैं। उनकी यह मुद्रा वर्षों से देख रहा हूँ। राह बाट में कहीं यह झोला छूट जाय फिर तो वे पूरी तरह सर्वहारा ही बन जायेंगे। और फिर उनके जीने का सहारा गायत्री मन्त्र ही रह जाएगा। हाँ, गायत्री मंत्र में उनकी अशेष आस्था है। वे कहते हैं कि गायत्री का पल्ला न पकड़ा होता तो फिर विक्षेप-लोक से निकलना और वैदिक वाङ्मय का आस्वाद पाना असम्भव होता !

जागतिक यातना से छविनाथजी की संवेदना की बराबर लड़ाई चलती रहती है और अब तो खिलखिलाते हुए वे अपनी समस्याओं को शिशु-मुद्रा में अँगूठा दिखाते रहते हैं मगर दो-दो बार उनकी संवेदना बुरी तरह घायल होकर उग्र नृत्य कर चुकी है। जाने किस मुहूर्त में उन्होंने अपने नाम के साथ "पागल" शब्द जोड़ लिया था कि उनका मन बराबर उसी दिशा में धावन करता रहा तब तक, जब तक वे पूरी तरह पागल नहीं हो गये। उस लोक से दूसरी बार जब वे सामान्य जमीन पर उतरे तो उन्हें बोध हुआ कि इस प्यारे शब्द को अपनी दुनिया से हटाना जरूरी है। और अब वे केवल छविनाथ मिश्र हैं, पागल नहीं। यद्यपि आज भी कभी-कभी वह मुद्रा उनके

ग्रामीण व्यक्तित्व में झलक मारती है। और तब जरा सचेत होकर वे खिलखिलाकर हँसते हुए कहते हैं, "मुरहा हूं स्वभाव में ही बदमाशी और अराजकता है" लेकिन उनके व्यवहार की ऋजुता, मुरव्वत और ऊँचे दर्जे की शराफत को देखकर विश्वास करना कठिन है कि पं० छविनाथ मिश्र का जन्म मूल नक्षत्र में हुआ है। हुआ होगा। तभी वे कहते हैं तुलसीदास भी मूल नक्षत्र में ही पैदा हुए थे। उनके शब्द गवाही देते हैं कि कितनी गहरी यातना झेलनी पड़ी थी उन्हें अपनी लोकयात्रा में। बैरागी होकर तुलसीदास कितना दहकते रहे हैं, "विनय पत्रिका" और "कवितावली" के पद प्रमाण हैं। छविनाथजो की कविता में उनकी वैयक्तिक पीड़ा उतनी उघर हो कर नहीं आई है। उनकी कविताओं से उनकी जिन्दगी की व्यथा आंकना सम्भव नहीं। कविताओं में तो एक सामान्य सौन्दर्य-स्पृहा और परा-ज्योति से जुड़ने की अकुलाहट ही दीखती है।

जिन्दगी के कठोर थप्पड़, जो लोकयात्रा की बीहड़ राह पर पैर रोपते ही उन पर निर्मम ढंग से पड़ने लगे थे और अपनी पुरातन प्रीति का स्मरण दिलाने आज भी उनके दरवाजे सुबह-शाम पहुंच जाते हैं, उनका परिचय उन्हें नहीं मिल सकता जो कविता के दरवाजे से छविनाथजी के मानुष की मुसीबतों और मशक्कतों को समझना चाहते हैं। सामान्य अर्थ में दागी नहीं, बड़े साफ पाक आदमी हैं मेरे मित्र पं० छविनाथ मिश्र, लेकिन उनके करीब पहुंचने पर साफ दिखाई पड़ता है कि जिन्दगी की निछोह मार के गहरे दाग उनके बाहर-भीतर भर गये हैं। उन दागों पर छविनाथ जी अपनी हँसी से पर्दा डालते रहते हैं। अपने गार्हस्थिक दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत और अपनी पीड़ा से एक हद तक लापरवाह होकर छविनाथजी हमेशा हँसते रहते हैं। कभी-कभी तो हँसते हँसते बच्चों की तरह लहापोट हो जाते हैं। लगता है, फुटपाथ पर ही पसर जायेंगे। इतनी दिक्कतों में जीनेवाले आदमी को पता नहीं भीतर से कौन गुदगुदाता रहता है कि अपनी जागतिक समस्याओं को अंगूठा दिखाते हमेशा खिलखिलाते रहते हैं। अपरिचित समझते हैं, कविजी परम सुखी प्राणी हैं। मगर जानने वाले जानते हैं कि कविता ही कविजी का सुख है। उनकी बिटिया ऋचा उनकी नजर में उनकी सबसे प्रिय कविता है।

जब पूरे हुलास में छविनाथजी होते हैं शिष्टाचार की चादर को फाड़कर फेंकते उन्हें स्थान, काल, पात्र का कुछ विशेष ध्यान नहीं रहता। मित्र मंडली में वे अक्सर इसी मन:स्थिति में रहते हैं। मेरे जैसे किंचित संकोची आदमी को भी वे अपनी मैत्री के जोर से अपनी जमीन पर उतार लाते हैं। आकस्मिक रूप से कहने लगे एक दिन "पण्डितजी, मुहब्बत बहुत जरूरी है, स्वाभाविक भी है।" अप्रासंगिक बात सुनकर विस्मित मुद्रा में मैं उनकी मुस्कुराती मुद्रा निहारने लगा। मेरे परहेजी स्वभाव को "मधुर अन्दाज में छेड़ते वे बोलते रहे, "आप कविता से कट गये। कारण है, मुहब्बत

की राह नहीं पकड़ी। गड़बड़ है। मुहब्बत, कविता की आबोहवा तैयार करती है उस राह से परहेज करने पर यही होता है। गड़बड़ पंडीजी। मगर निराश होने की बात नहीं है। अभी पूरी सम्भावना है। ५०-६० के बीच जिन्दगी में एक बार रंगीन लहर का नर्तन होता है। बड़ी मादक होती है वह लहर, हमलोग ध्यान रक्खेगे कि यह सम्भावना ख़ाली न निकल जाय। मगर आपको भी जरा सजग रहना पड़ेगा।" और जोर से हँसते हुए मेरा कंधा दबाते हैं। हँसती साँझ को भीड़भरी सड़क पर छोड़कर हमलोग अपने-अपने नीड़ की राह पकड़ते हैं।

छविनाथजी की उच्छल आत्मीयता उदासी के कुहासे को अपनी एक मुस्कान मुद्रा से उजास में बदल देती है। एक अन्तरंग सांध्य गोष्ठी में जब लोग गिलास में शराब डालने लगे मैं जरा असमंजस में पड़ गया। देखता हूं, छविनाथजी के सामने बड़े अदब से गिलास बढ़ाते एक आत्मीय सज्जन शौक फरमाने का अनुरोध कर रहे हैं। छविनाथजी अस्वीकार की मुद्रा में हाथ जोड़ते हैं। और तब सहज उत्सुकतावश मैं उनसे पूछता हूं, "पंडीजी, आपने कभी शराब चखी है?" शराबी मुस्कान बिखेरते छविनाथजी कहते हैं "सब घाट का पानी पी चुका हूं पंडीजी। ये है कि अपना पानी नहीं बिगड़ने दिया है'। और फिर जोर का ठहाका लगाते हैं। सारी महफिल हक-बका कर उन्हें देखने लगती है। ठहाका पर विराम लगाते छविनाथजी धीरे से कहते हैं, "ठीक है" और मैं सोचने लगता हूँ ठीक जो वृहत ज्योति का प्यासा है उसे शराब कैसे लुभा सकती है। वृहत ज्योति को हांक लगाती छविनाथजी की कवितायें केवल शब्दों का जोड़तोड़ नहीं है, उनकी सच्ची अभीप्सा की अभिव्यक्ति है। दादा 'सैयाद'जी जैसे अजीज दोस्तों ने उन्हें गृहस्थी के पगहे में बांध न दिया होता तो न जाने आज छविनाथजी कहां होते। सम्भव है, अनिर्वाणजी की वाङ्मय गन्ध उन्हें वैराग्य के बीहड़ लोक में उड़ा ले गयी होती और तब कदाचित उस ज्योति-सागर के तटपर होते जिसके लिये उनका मानस वर्षों से तड़प रहा है। मगर जिस श्रेणी के गृहस्थ हैं छविनाथजी उस श्रेणी के लोगों के प्रारब्ध में केवल तपना और तड़पना ही होता है। गृहस्थी का पगहा इस स्तर के आदमी को बैल बनाकर छोड़ता है। चाहे छविनाथजी हों, चाहे हम, चाहे हमारी श्रेणी का कोई और।

सहज मौज में कई बछड़ों की पीठ ठोंककर छविनाथजी ने सांड़ बना दिया है जो अकारण उत्पात की सृष्टि करते रहते हैं। अपनी इस करनी पर छविनाथजी पछताते भी खूब हैं, मगर स्वभाव बदलता नहीं। उनकी बउड़म व्यवहार शैली को उनके एक अन्तरंग ने एक बार टोका था, "आप समझते नहीं, अपात्र की पीठ ठोकने पर उसका संतुलन बिगड़ जाता है और नाहक वह युयुत्सु मुद्रा में उतान होकर चलने लगता है। पीठ सहलाना बुरा नहीं, ठोकना खतरनाक है। जरा सावधान रहा कीजिए" मगर छविनाथजी के व्यक्तित्व का बाउल राग दूसरे के इशारे को कहां सुनता

है। उनकी अपनी धुन है। उसी में जीना-मरना उन्हें रुचता है। व्यवहार बुद्धि सुझाने वाले को भी एक दिन उन्होंने जोर से पीठ ठोक दी थी और अगंला तोड़कर वह पूरी तरह वामाचारी बन बैठा था। उससे छविनाथजी बाद में कुढ़ते रहे।

वैसे कुढ़ना उनका स्वभाव नहीं है। प्रतिकूल समय का दंश उन्हें कम नहीं झेलना पड़ता, लेकिन अन्तरंग मित्रों के बीच भी वे अपना दुखड़ा नहीं रोते। कभी कुछ कहते भी हैं तो बड़े सहज भाव से हँसते हुए। हाँ, अपने आप पर छविनाथजी जितना हँसते है वैसा शायद ही कोई हँसता हो।

गृहस्थी की जिम्मेदारी पूरी करने के लिये उन्हें अनेक अरुचिकर काम करने पड़ते हैं। प्रूफप्रसंग को पूरा कर जब अपने स्नेहभाजन शिवकुमार नोपानी का प्रेस छोड़ते हैं तो उनके एक हाथ में पोथियां होती हैं, दूसरे में चावल-आटा के झोले जिन्हें वे बड़ाबाजार से लिलुआ तक प्राय: ढोया करते हैं। कच्ची उमर में गांव छोड़कर कलकत्ता आये थे / कुछ बनने के लिये। बड़ा तपना पड़ता है। निराला, उग्र, भगवती चरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, शिवपूजन सहाय और दूसरे बड़े-बड़ों को कितना तपाया-सताया है, कलकत्ता ने, इतिहास गवाह है। और अजीज दोस्त गवाह हैं कि कलकत्ते के नंगे फुटपाथों पर छविनाथजी को कई ठिठुरती रातें काटनी पड़ी हैं। छविनाथ जी कहते हैं हँसते हुए, सभी घाट का पानी पी चुका हूं। और नानाविध कष्ट देनेवाला कलकत्ता है जहाँ ऐरे गैरे नत्थू खैरे की गाजेबाजे के साथ आरती उतारी जाती हैं, अपात्र रंगीन मंचों पर गुलछर्रे उड़ाते हैं और जहाँ छविनाथ जी जैसी ऊँची प्रतिभा को कारखाने में सामान्य नौकरी कर और प्रूफजांच कर अपनी रोटी का इन्तजाम करना पड़ता है। छविनाथ जी को अपनी जन्मभूमि से अधिक प्रिय है अपने प्रदेश के आत्मीय शहर मेरठ, लखनऊ और इलाहाबाद जैसे स्वच्छ सुन्दर शहर जिनसे उनकी मधुर भावना ज़रूर जुड़ी है, कलकत्ता की तुलना में अनात्मीय और अनाकर्षक लगते हैं। निराला की बरबस याद आती है, जिन्हें कलकत्ता ने कवि के रूप में शीर्ष प्रस्तुति की, जिन पर भयंकर लांछन लगाये, छुरी चलायी और उनके संवेदना-समृद्ध मानस को बार-बार निर्मोह धक्का मारा, वहीं धूल, धुआं और शोर में डूबा कलकत्ता निराला को सदा प्रिय रहा। नेवता पाते ही लखनऊ और इलाहाबाद की शोभा त्याग कर निराला कलकत्ता भागते थे। कलकत्ता से भागे थे उग्र हिन्दी-सेवा के पुरस्कार से खीझते हुए, "परे करो हिन्दी को। चरने दो उन्हें जिन्हें चर्राती है, चलो बम्बई चलें।" मगर हमारे छविनाथ जी की आस्था और मुहब्बत प्रतिकूलता की मार से टूटती नहीं। वे तो अपने प्यारे शहर कलकत्ता के साथ ही जीना-मरना चाहते हैं। निराला को महादेव सेठ जैसा दरिया दिल दोस्त मिला था। नवलजी के उपक्रम से छविनाथ जी को (स्व०) मदनमोहन अग्रवाल जैसा समर्थ-सहृदय मित्र मिला जिसने उन्हें नियमित आमदनी का साधन उपलब्ध कराया वरना कैसे-कैसे धंधे छविनाथजी

को करने पड़ते। उनके दरवाजे मुद्रा विनीत करनी पड़ती जिनके दर्शन से पाप चढ़ बैठता है। हाँ, किसी पत्रिका के लिये विज्ञापन बटोरने, कुछ पैसे की आशा में, कविता और पोथी को किनारे कर उन्हें ठाँव-कुठाँव दोड़ना पड़ा है। छविनाथजी ही जानते हैं कितने स्तरहीन और फूहड़ धंधे से उन्हें जुड़ना पड़ा है। मगर उनके व्यक्तित्व का पानी कभी बिगड़ा नहीं, कविता नहीं मरी और विद्या-संस्कार निरन्तर समृद्ध होता गया।

आज वे प्रायः हँसते रहते हैं। अपदार्थ पर पुष्प-वर्षा होते देखते हैं तब भी और सद्पात्रों को मार खाते देखते हैं तब भी। उनकी हँसी की मुद्रा भी अद्वितीय है। कभी तो शिशु की तरह ऋजु और निर्मल होती है और कभी शरारती और रहस्यमय अपने अन्तरंग मित्रों के बीच छविनाथजी की कई मोहक मुद्रायें दिखाई पड़ती हैं। कभी तो और लोग जोर-जोर से बात कर रहे होते हैं और छविनाथ जी उनका मुँह ताक रहे होते हैं और कभी भदेस भाषा में धारा प्रवाह बोलना शुरू करते हैं और दोस्तों को हँसते-हँसाते अधमरा बना देते हैं। जब मूक होकर लोगों की ओर अपलक दृष्टि से ताकते रहते हैं तो लगता है, मित्रों का मानस पढ़ रहे हैं या फिर परालोक में उनका मानस विचरण कर रहा है, वृहत् ज्योति की तलाश में कहीं दूर चले गये हैं। जब भदेस भाषा की भूमिका शुरू होती है तो लगता है, छविनाथजी उग्रजी के पड़ोसी गाँव के बाशिन्दे हैं, यही रूप ज्यादा आकर्षक होता है, बाउल-मुद्रा में जब फुदकने लगते हैं भदेस भाषा का रस उछालते। उनका वह रूप अच्छा नहीं लगता जब वे दार्शनिक ज्ञान छाँट रहे होते हैं। वय-ज्येष्ठता का लिहाज न होता तो मैं या मेरे जैसा कोई उनका दूसरा मित्र उनका ज्ञान-कांड शुरू होते ही उनका मुँह बंद कर देता। मगर ऐसा नहीं हो सकता, इस बात को छविनाथ जी भी ठीक से समझते हैं। इसलिये विज्ञान और दर्शन की दुनियाभर की बातों में उलझा कर अंतरंग खुली मित्र-बैठकी की उच्छलता को नाहक जड़ और भारी बना देते हैं। ऐसा नहीं कि छविनाथ जी अपने अध्ययन की गुरुता का मित्रों पर धौंस जमाना चाहते हैं। अपने अध्ययन से उपलब्ध रोशनी से मित्रों को जोड़ने की ही उनकी सहज इच्छा रहती है। और उससे बहुत बार मित्रों का लाभ भी होता हैं। तथापि उनका यह पण्डिताऊ रूप रुचता नहीं। रुचते हैं छविनाथ जी तब जब अपनी कविता की रोशनी से नहलाते हैं, 'फ़िराक़' की ग़ज़ल तरन्नुम में गाते हैं, गहरी मुस्कान से मित्रों के मानस को गुदगुदाते आलोकित करते हैं और भदेस शैली में बतियाते हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते हैं। मगर उनका यह मोहक रूप अंतरंग मित्रों के बीच ही मुखर होता है। पराये के सामने तो वे शालीनता की हद पर होते हैं। एक प्रसंग मुझे याद है—नवलजी के रामनाम विषयक दोहों पर मुग्ध होकर वैष्णव संस्कारवाले पं० विष्णुकान्तजी उनकी उच्छ्वसित प्रशंसा कर रहे थे और नवल से दोहा सुनाने का आग्रह कर रहे थे। नवल जी मूड में नहीं

थे या फिर उनके नखरे का भाव चढ़ा हुआ था। मुझे थोड़ी शरारत सूझी। विष्णुकान्तजी को सम्बोधित कर कहा, नवलजी की दोहा-रचना पर छविनाथजी ने एक दोहा रचा है। सुन लीजिये, सच कहता हूं, शास्त्री जी, मन प्रसन्न हो जायेगा। थोड़ी, गंभीर मुद्रा में मैंने बात कही और छविनाथजी से आग्रह किया, 'पंडितजी, वह दोहा आज शास्त्री जी को सुना ही दीजिये जिस पर मदन बाबू लहालोट रहते थे।'' मेरा प्रस्ताव सुनते ही छविनाथ जी पानी-पानी हो गये। लाज में डूबी उनकी मुद्रा देखने ही लायक थी। विष्णुकांत जी ने हारते हुए कहा, ''आज किसी का मूड नहीं बन रहा है। चलो रामजी की जैसी मर्जी।'' और रामजी ने उस दिन छविनाथ जी की लाज बचायी वरना मैंने तो उन्हें सूली पर चढ़ा ही दिया था। पंडितों और परायों के सामने वे सकुचाते हैं, शुद्ध शालीनतावश, किसी हीन ग्रन्थि के चलते नहीं, अनेक पंडितों को वे अपनी उद्भट प्रज्ञा से माप चुके हैं कि वे कितने पानी में हैं। इसलिये किसी पंडिताई का उनके मन पर आतंक नहीं है। उनकी कवितायें बताती है कि परा-चेतना की ही नहीं अपरा के ''समयदंश'' की बड़ी तीव्र प्रतीति उनमें है। फिर भी वे कुढ़ते-खीझते नहीं, खिलखिलाते रहते हैं। उनकी सदा कायम रहने वाली प्रसन्न मुद्रा संकेत देती है कि उनके मन ने कोई दुर्लभ आबोहवा उपलब्ध कर ली है जो उनके आनन्द-लोक को सदा जागृत रखती है। हम उनके मित्र जब किसी न किसी समस्या के भार से थके-थके और उदास रहते हैं, अभावों और समस्याओं के भारी बोझ से दबे पं० छविनाथ मिश्र वैदिक ऋचा अपनी भाषा और अपने राग में गाते रहते हैं—

पृथ्वी रसस्वदा मैत्रेयी, सोम उड़ेले आंगन-आंगन
जिसकी छुअन जगा जाती है—
जड़चेतन में धड़कन-फड़कन
लौटे हैं, हम कहाँ-कहाँ से
हम तो वृहत् ज्योति के प्यासे
प्रथम पान के हम अधिकारी, तृप्त करो तुम भीतर-बाहर।●

प्रतिध्वनि द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

निबन्ध संग्रह

वाग्मिता : कल्याणमल लोढ़ा

वाक्‌पथ : कल्याणमल लोढ़ा

इतस्ततः : कल्याणमल लोढ़ा

यात्रा संस्मरण

काले पानी का गहराव : मनमोहन ठाकोर

साहित्यिक संस्मरण

अन्तरंग : मनमोहन ठाकोर

सम्पादित ग्रन्थ

कलकत्ता १९९३ : सं० विष्णुकान्त शास्त्री

कलकत्ता १९९४ : सं० प्रतिभा अग्रवाल

नवल कृत अग्नि : सं० मनमोहन ठाकोर

सहयात्री : नीलम श्रीवास्तव की कविताएँ : सं० नवल

[illegible] छविनाथ मिश्र : सृजन एवं संघर्ष : सं० डॉ० इन्दु जोशी

[illegible]ता संग्रह

[illegible] : सविता बैनर्जी

[illegible] पर खंडित सूर्य : आशा अंशु

[illegible]वास रच रहा है मुझे : इन्दु जोशी

बिजूका : श्यामसुन्दर

छायागाछ : चिरंजीलाल

आहट : नौरतन भंडारी

शब्द यात्रा : रणजीत गीतेश

धारदार : राजेन्द्र कानूनगो

शब्द साक्षी है : सुशील गुप्ता

बना दो मुझे समुद्र : विद्या भंडारी

[illegible] यात्रा से गुजरते हुए : देवदीप

मौसम की वापसी : हृदयेश पाण्डेय

कालाहांडी : थरथराती नदी पर पुल : नवल

स्वर्ण कुण्डल : प्रफुल्लचन्द्र पट्टनायक

एक अयोध्यावासी का वचन : मधुर परमार

मुझे मत छुओ : शहनाज नबी

ऋतुरंग : छविनाथ मिश्र

सुनो कविता ! मेरा नाम ईश्वर है : छविनाथ मिश्र

आलोचना

अप्रस्तुत के कवि और समकालीन कविता : श्रीनिवास शर्मा